TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_180288
UNIVERSAL LIBRARY

Osmania University Library

33.1 Accession No. P.G.H 3155
183U

त्रिपाठी, रामप्रसाद
पीनचदों की कहानियाँ

book should be returned on or before the date last
ow.

उपनिषदों की कहानियाँ

[उपनिषदों की तेरह पुनीत कथाएँ]

दूसरा भाग

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

चतुर्थावृत्ति : १९६१ ईसवी

ढाई रुपया

मुद्रक : हरप्रसाद बाजपेयी
श्रीकृष्ण प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

स्वर्गीय पितृदेव पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी जी
के पूज्य चरणों में

दो शब्द

उपनिषदों में ज्ञान का भांडार है। सूक्ष्म विषयों की जहाँ विवेचना की गई है वहीं उदाहरण रूप में कुछ कथाएँ भी कही गई हैं जिनसे शिक्षा हृदयङ्गम हो। इन कथाओं की संख्या कम नहीं है। परन्तु इनका अधिक प्रचार नहीं हुआ। पुराणों से तो हम परिचित रहते हैं, रामायण और महाभारत भी हम पढ़ लेते हैं। परन्तु इस विचार से कि उपनिषद् में धर्म और दर्शन के ही गूढ़ तत्व होंगे, इनको पढ़ने का साहस नहीं होता है और इनमें बच्चों और नवयुवकों के उपयुक्त कोई सामग्री होगी इसका कभी ध्यान ही नहीं रहता है। श्री रामप्रताप जी त्रिपाठी ने इस पुस्तक को लिखकर हिन्दी साहित्य का महान उपकार किया है। इससे विद्यार्थी बहुत लाभ उठा सकते हैं और अपने चरित्र को, अपने जीवन के आदर्शों को, अपने विचारों को संस्कृत कर सकते हैं। लेखक की शैली बहुत ही सरल और आकर्षक है।

१० अक्टूबर १९४६ ई०

अमरनाथ झा

निवेदन

विश्व के विस्तृत वाङ्मय में वेदों के साथ-साथ उपनिषदों की महत्ता बे-जोड़ है। वे न केवल अपनी परम प्राचीनता के कारण ही आदरणीय हैं प्रत्युत उनकी सहज सुख-शान्तिदायिनी सूक्तियां और कथाएं सचमुच अमरत्व का सन्देश देने वाली हैं। भारतीय आर्य संस्कृति का समुन्नत रूप सदा से इन्हीं अमृत-दीर्घिकाओं में निमज्जित होकर निखरा है। वे किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं हैं, बल्कि कहना तो यह चाहिए कि सभी सम्प्रदायों एवं वादों की सृष्टि इन्हीं से हुई है। हिमवान् की तरह सभी धाराओं का उद्गम इन्हीं से हुआ है। सबका मूलाधार यही हैं। इनकी सामान्य दृष्टि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महान् एवं पुनीत लक्ष्य पर स्थिर है। ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण एवं ब्रह्मचर्य गृहस्थादि आश्रम सम्बन्धी नियमों का भी झमेला इनमें नहीं है। बड़े-बड़े पंडितम्मन्य ब्राह्मण जो संसार से वीतराग होकर ज्ञान की उपासना में सदा लगे रहते थे, उन क्षत्रियजन्मा राजाओं की शरण में जाकर शान्ति लाभ करते हैं कि ज्ञान और कर्म को समान आदर देते हैं। यही कारण है कि सभी सम्प्रदायों एवं वादों के ऊपर इनकी महनीयता आज भी अक्षुण्ण है। देश-विदेश में सर्वत्र एक-सा इनका आदर है! परन्तु इन सब विशेषताओं के होते हुए भी उपनिषदें सर्व-साधारण के लाभ में नहीं आ सकीं। हमारे अनेक संस्कृतज्ञ पंडित अब भी उनकी गहन गंम्भीरता की दुहाई देकर उनके अमर सन्देश से आजीवन वंचित रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल हिन्दी जाननेवालों का क्या दोष? गीता प्रेस आदि धार्मिक साहित्य-प्रचारक संस्थाओं ने उपनिषदों के सभाष्य हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किये हैं, पर विषय-गत दुरूहता तथा आध्यात्मिक के प्राचुर्य के कारण उनमें भी केवल हिन्दी जाननेवालों की प्रवृत्ति कम हुई है। उनका प्रचार अभीष्ट नहीं हुआ है।

हिन्दी में यह कहानियों का युग है। बच्चों की बहलाने वाली भूतों-प्रेतों और कुत्तों-सियारों की कहानियों से लेकर आर्थिक एवं वैज्ञानिक विषयों की कहानियों तक का प्रकाशन धड़ल्ले से हो रहा है। कितनी अश्लील, भ्रष्ट, कुरुचिपूर्ण एवं समाज के जीवन को विषाक्त करनेवाली कहानियों की पत्रिकाएँ भी प्रतिमास हजारों की सख्या में प्रकाशित होकर आर्य संस्कृति का गला घोंटने के लिए चारों ओर फैली हुई हैं। निश्चय ही इन विषैली कहानियों से हमारी सांस्कृतिक चेतना का दम घुट रहा है। हमारे अधिकांश नवयुवक समाज का तो नियमित नैतिक पतन हो रहा है। कहानियों की यह मोहक मदिरा साहित्य में सर्वत्र अमर वेलि की तरह छाई हुई है। ऐसी विषम परिस्थिति में इन उपनिषदों की 'पुनीत कहानियों' का गन्थन केवल इसी विचार से किया गया है कि कदाचित् कहानियों की प्रेमी हिन्दी-जनता में उपनिषदों के अमर पात्रों के साथ-साथ उनके परम सुख-शान्तिदायक अमर संदेशों की गूँज भी थोड़ी-बहुत पहुँच सके और इसी बहाने से उपनिषदों में क्या गूढ़ तत्व भरा हुआ है इसे वे भी जान सकें। बस, इससे अधिक इनकी उपयोगिता के बारे में मुझे कुछ कहना नहीं है।

इन कहानियों के पात्र प्रायः सभी उपनिषदों के है। घटनाएँ और संवाद भी अधिकांश उन्हीं के हैं। केवल रोचकता और प्रवाह लाने के लिए कुछ न कुछ कल्पना का आश्रय लिया गया है। समय की नाड़ी पह-चान कर ही मैंने यह 'धृष्टता' की है। आशा है, हमारे गुरुजन इसके लिए हमें क्षमा करेंगे और हमारेकहानी-प्रेमी पाठक इसे कुछ पसन्द करेंगे। मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि ये कहानियाँ अनुवाद बिल्कुल नहीं हैं, इनमें उपनिषदों के पात्रों, घटनाओं और संवादों के उपयोगी अंशों को नवीन कहानी शैली के में ढाला गया है। मैं मानता हूँ कि मनोवैज्ञानिक एवं प्रगतिशील कहानियों के इस युग में इन विचार प्रधान एवं आध्यात्मिक कहानियों के पाठक कम निकलेंगे। पर अभी हमारी संस्कृति एवं सभ्यता पर स्नेह और आदर रखनेवालों की इतनी कमी

नहीं है और उन्हीं के योग्य हाथों में सौंपने के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट है। पश्चिम की होड़ में पूर्व का सब कुछ हेय नहीं हैं। स्वतंत्र देश का वह अपना अतीत, जो आज भी गौरवमय समझा जाता है, इतना उपेक्षणीय नहीं है। उपनिषदें हमारी गौरव-शालिनी संस्कृति एवं अतीत सभ्यता की उज्ज्वल-निधि हैं। उनमें हमारे जीवन का ऐसा स्वरूप छिपा हुआ है जिसकी खोज में आज का सारा संसार 'ऐटम' के प्रकाश में भी भटक रहा है।

इस दूसरे भाग में कुल तेरह कहानियाँ संगृहीत हैं। पहले भाग की कहानियों की अपेक्षा इनकी भाषा और पृष्ठभूमि कुछ ऊँची, और परिष्कृत हो गई है जिसके लिए मैं विवश था। इन कहानियों में उन उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य तत्वों का स्वरूप भी निखार दिया गया है जिनसे कहानियों के पात्र और घटनाएँ ली गई हैं। यही कारण है कि पहले भाग की कहानियों से इनमें 'कहनापा' कुछ कम तथा तत्वविवेचन अधिक आ गया है। पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि ये कहानियाँ हैं ही नहीं।

ज्येष्ठ कृष्ण १, २००५
हिन्दी संग्रहालय, प्रयाग।

रामप्रताप त्रिपाठी

कहानियों के क्रम

१. महात्मा पिप्पलाद और उनके शिष्य

कबन्धी	...	१—१०
वैदर्भि	...	११—१७
कौशल्य	...	१८—२३
सत्यकाम	...	२४—२६
गार्ग्य	...	३०—३७
सुकेशा	...	३८—४४
२. इन्द्र और विरोचन	...	४५—६४
३. अजातशत्रु और बालाकि	...	६५—८७
४. महाशाल शौनक और अंगिरा	...	८८—१११
५. श्वेतकेतु गौतम और प्रवाहण जैबलि	...	११२—१३१
६. सर्वश्रेष्ठ आकाश	...	१३३—१४१
७. भृगु को आत्मज्ञान की प्राप्ति	...	१४२—१६२
८. प्रजापति की शिक्षा	...	१६३—१७३

महात्मा पिप्पलाद और उनके शिष्य

[१ कबन्धी]

महात्मा पिप्पलाद संसार मे एकदम विरक्त रहते थे। उनको अपने खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की भी कोई चिन्ता नहीं रहती थी। यहाँ तक कि अपने रहने के लिए उन्होंने कोई कुटिया भी नहीं बनाई थी। वे प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे, कभी यहाँ तो कभी वहाँ। वह अपने समय के इतने महान पण्डित थे कि जब कभी देश में किसी गूढ़ विषय पर शास्त्रार्थ अटक जाता था तो वही सुलझाते थे। उनके शिष्यों की भारी संख्या देश के कोने-कोने में फैली हुई थी। महात्मा पिप्पलाद का पुराना नाम क्या था, इसे तो हम नहीं बता सकते, पर उनका यह नाम बाद को पड़ा हुआ मालूम होता है। पिप्पलाद का अर्थ होता है पिप्पल को खाकर जीवन बिताने वाला। पिप्पल कहते हैं पीपल को। अर्थात् वह संसार से इतने विरक्त थे कि पीपल का फल खा कर जीवन बिताया करते थे।

हमारे पूर्वजों की ज्ञानपिपासा और संसार से एकदम निःस्पृह रहने की कहानियाँ ऐसी हैं कि उन पर अब विश्वास करने वाले ही बहुत कम मिलेंगे। रात-दिन ब्रह्म-चिन्तन एवं समाज सेवा में लगे रहने वाले

हमारे ये पूर्वज अपने शरीर का भी कोई ध्यान नहीं रखते थे। इन्हीं महात्मा पिप्पलाद की तरह एक महर्षि कणाद भी थे, जो अन्न के कण अर्थात् कने को खाकर जीवन बिताते थे।

महात्मा पिप्पलाद को उनके शिष्यों और भक्तों ने बहुत चाहा कि वह एक निश्चित स्थान पर रह कर और कुटिया बना कर अपना सुखमय जीवन बितावें, परन्तु उनके जीवन का उद्देश्य शारीरिक सुखो का भोग करना तो था नहीं, इसलिए वह कभी इस बात पर राजी नहीं हुए। जब कभी कोई शिष्य बहुत आग्रह करता तो रात भर के लिए उसके यहाँ टिक जाते, किन्तु सबेरा होते ही फिर अपना रास्ता देखते।

एक बार यही महात्मा पिप्पलाद गंगा-यमुना के संगम पर तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग से आये हुए थे। उस समय भी इस सङ्गम का नाम प्रयाग था। देश के कोने-कोने से, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि यहाँ इकट्ठे होकर यज्ञ-यगादि किया करते थे। यही गगा के पूर्वी किनारे पर समीप ही प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) था, जो अति प्राचीनकाल से हमारे देश की सब से बड़ी राजधानी रहा है। महर्षि भरद्वाज का आश्रम भी यही था। उस समय लगभग एक महीने तक प्रयाग में मेला लगता था। उतने समय तक महात्मा पिप्पलाद यहाँ नियमित रूप से निवास करते थे और देश-देश के बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि-महर्षियों के मन में जो कुछ शंकाएँ रहती थीं, यहीं आकर उनसे सब अपनी जिज्ञासा शान्त करते थे और पूर्ण रीति से समाहित चित्त होकर अपने-अपने आश्रमों को वापस लौटते थे। प्रयागराज का यह मेला आजकल की तरह खेल-कूद, सैर-सपाटे अथवा नाच-रंग देखने के लिए नहीं होता था और न हम लोगों की तरह खूब सज-धज कर एक दूसरे को दिखाने के लिए ही लोग उसमें आते थे। यहाँ प्रतिवर्ष किसी-न-किसी राजा एवं सम्राट् की ओर से प्रयाग अथवा बहुत बड़ा याग (यज्ञ) भी होता था, जिसमें लाखों विद्वान् पण्डित भाग लेते थे, और वह इस तरह पूरे महीने भर तक बराबर चला करता था। उस यज्ञ में भाग लेने वाले विद्वान् पण्डित आई हुई जनता को सच्चे धर्म का

उपदेश करते थे, जिससे उनका जीवन सुख-शान्ति से बीतता था। दया, धर्म, क्षमा, सत्य, अहिंसा, सेवा, सदाचार आदि का मर्म समझा कर गृहस्थों के चित्त में श्रद्धा और भक्तियुत ज्ञान का बीज बोया जाता था, उनके अज्ञान-अंधकार को दूर किया जाता था। इस बड़े मेले का प्रभाव इतना व्यापक पड़ता था कि देश में पूरे वर्ष भर तक लोग आपस में भाई-भाई की तरह जीवन बिताते थे, न किसी से किसी का झगड़ा होता था, न कोई किसी का धन ले लेने को फिकर रखता था। घर-घर गाँव-गाँव में इसी के कारण वर्ष भर तक आनन्द की बंसी बजती थी। न कोई व्याधि आती थी, न कभी अकाल पड़ता था।

संयोग से एक वर्ष ऋषियों के समाज में भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, सौर्य के पुत्र गार्ग्य, कत्य के पुत्र कवन्धो, भृगु के पुत्र वैदर्भि और अश्वल के पुत्र कौशल्य भी उपस्थित थे। यह सभी नवयुवक ऋषि वेद-वेदाङ्ग के महान् पण्डित तथा परम तपस्वी थे। महात्मा पिप्पलाद को उपस्थिति से लाभ उठाने के विचार से उन सबों ने मिल कर यह निश्चय किया कि उनसे मिलकर पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

यह विचार निश्चित कर वह सभी ऋषि हाथ में समिधा, कुश, पुष्प, तथा मृगचर्म लेकर महात्मा पिप्पलाद के समीप पहुँचे और अत्यन्त श्रद्धा तथा विनय के साथ प्रणाम करते हुए बोले—'महात्मन्! हम सब ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं, कृपा कर हमें उस परम गोपनीय ब्रह्म-विद्या से पूर्णतः परिचित कराइये।'

महात्मा पिप्पलाद ने देखा, वह सब ऋषिकुमार अभी नवयुवक हैं, उनका वय अभी तीस-पैंतीस वर्ष से अधिक नहीं है। उनकी आँखों में चंचलता की रेखा नाच रही है तथा वाणी में विनम्रता की अभी कुछ कमी है। लौकिक दुःखों की अनुभूति का प्रत्यक्ष अवसर भी अभी उन्हें नहीं मिला है। थोड़ी देर तक उनकी ओर देखकर मुसकराते हुए धीर

किन्तु गम्भीर स्वर में वह बोले—'ऋषिकुमारो ! मैं अवश्य तुम्हें उस ब्रह्म-विद्या का उपदेश करूँगा, जिसे बहुत कम लोग बतलाते है; परन्तु उसके लिए तुम सब को साधना की आवश्यकता पड़ेगी। वह विद्या परम गोपनीय तथा अधिकारी पात्रों में दी जाने वाली है। अभी तुम लोग उस पवित्र स्थिति में नहीं पहुँचे हो, जिसे मैं ब्रह्म-विद्या देने के योग्य समझूँ। मैं मानता हूँ कि तुम सब परम तपस्वी और वेद-वेदांगों के पूर्ण पण्डित हो, पर अभी तक तुम्हे धैर्य, क्षमता एवं सन्तोष की सच्ची प्राप्ति नहीं हो सकी है। इसके लिए तुम्हें आवश्यक होगा कि मेरे साथ एक वर्ष तक रह कर कठोर ब्रह्मचर्य एवं परम आस्तिक भाव की साधना करो। ऐसी मानसिक स्थिति में पहुँचो, जहाँ विकल्प एवं बाधाओं का संचार नहीं होता। ऐसी साधना के बाद मै तुम्हारे मन में उठने वाली सभी शंकाओं का समाधान करूँगा। इस कठोरव्रत को निर्बाध रूप से पूर्ण करने का विचार तुम सब पहले निश्चित कर लो, तब मुझे बताओ।'

छहों ऋषिकुमार बड़े असमंजस में पड़ गये, परन्तु इसके सिवा उनके सामने कोई दूसरा चारा था ही नहीं। थोड़ी देर तक वह सब आपस मे एक दूसरे का मुँह ताकते रहे। कुछ क्षण बाद साहस बटोर कर कत्य के पुत्र कुमार कबन्धी ने, जिसकी उमर सब से बड़ी थी, हाथ जोड़ कर कहा—'पूज्यवर ! आपकी आज्ञा हमें सहर्ष स्वीकार है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि आप के सतत सान्निध्य का एक वर्ष तक सुयोग मिलेगा। जिसके लिए हम मन में सदा लालायित रहते थे, उसकी प्राप्ति बिना प्रयास के ही हो रही है।'

अन्य ऋषिकुमारों ने भी कबन्धी के कथन का मौन होकर अनुमोदन किया। उस समय उन सबके मुख पर प्रसन्नता की लहरें दौड़ रही थीं। आँखों में उल्लास की बाढ़ आ गई थी।

महात्मा पिप्पलाद ने कबन्धी की ओर फिर से देखा। उसके मुख मण्डल पर थोड़ी देर तक उनकी तेजस्वी आँखें अटकी रहीं।

कबन्धी सहम गया। उसने अपनी आँखें सामने से हटाकर महर्षि के चरणों पर लगा दीं। पिप्पलाद बोले—'वत्स कबन्धिन् ! मेरे साथ रहने में तुम लोगों को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी, सम्भव है उनका ध्यान तुम्हें न होगा। तुम्हें यह तो विदित ही है की मेरा कहीं कोई नियत निवास नहीं है, आज यहाँ तो कल वहाँ। खाने-पीने या बिछाने-ओढ़ने की दशा भी तुम देख रहे हो। अच्छा होगा कि इस बड़े संकल्प के पहले तुम सब लोग खूब सोच विचार कर लो। मैं विचार करने पर अधिक जोर इसलिए दे रहा हूँ कि आज तक कोई भी ऋषिकुमार मेरी इस अग्नि-परीक्षा में सफल नहीं हुआ, कोई छहमहीने में छोड़ चला तो कोई बीच में ही।'

कबन्धी थोड़ी देर तक विचारता रहा, हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में बोला—'पूज्यचरण ! हमारे संकल्प कभी डिगने वाले नहीं होते। कम से कम मैं तो आपके चरणों के समीप रहकर अपना जीवन धन्य मानूँगा। मुझे इसमें कोई विकल्प न तो है और न कभी होगा।'

कबन्धी चुप हो गया। बगल में खड़े हुए साथियों में से सब ने महात्मा पिप्लाद के सामने एक वर्ष के कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उनके सतत सान्निध्य में रहने की तीव्र लालसा प्रकट की और इसमें अपना परम सौभाग्य बताया।

महात्मा पिप्लाद ने कहा—'ऋषिकुमार ! अच्छी बात है, आज से तुम सब मेरे साथ रहो, और मन समेत इन्द्रियों को धीरे-धीरे वश में करने का अभ्यास करो। इसके बाद वचन को और फिर कर्म को। यही मन सब से बढ़कर चंचल और दुर्ग्राह्य है, पहले इसी को वश में करो। परन्तु इसे वश में करने का सबसे सीधा किन्तु कठोर उपाय है, दसों इन्द्रियों को वश में करना। धीरे-धीरे अभ्यास करो और आने वाली कठिनाइयों को जीतने का यत्न करो। जब मैं जान लूँगा कि तुम मन, वचन, कर्म से पूर्ण आस्तिक भाव को प्राप्त कर चुके हो

तब ब्रह्म विद्या का उपदेश करूँगा, और उस समय तुम्हारे मन में जो भी शंकाएँ होंगी, उन सबका उचित समाधान करूँगा।'

बात तय हो गई। सब ऋषिकुमार महात्मा पिप्पलाद के साथ जीवन की साधना में निरत हो गये। अपने-अपने आश्रमों को उन्होंने अपने निश्चय का संदेशा भिजवा दिया और उसी दिन से महात्मा पिप्पलाद के साथ जुट गये।

इस प्रकार महात्मा पिप्पलाद के साथ रहकर उन छहों ऋषि-कुमारों ने अखण्ड ब्रह्मचर्य के सभी नियमों का विधिवत् पालन किया। इन्द्रियों को वश में रखने का भरसक प्रयत्न किया और चञ्चल मन पर अन्तरात्मा का नियंत्रण स्थापित किया। उनमें अपूर्व आस्तिक भावना का उदय हुआ और सृष्टि के कण-कण में भगवत्सत्ता की अविचल प्रतीति हुई। अभी तक उनमें शास्त्रार्थ विद्या का जो कुछ गर्व शेष था, महात्मा पिप्पलाद के रात के सत्संग से वह सब भी दूर हो गया।

एक दिन प्रातःकाल सन्ध्या पूजा से छुटकारा पाकर महात्मा पिप्पलाद ने अपने सबसे बड़े शिष्य कबन्धी को अपने समीप बुलाया और बैठने का संकेत कर पूछा—'वत्स! तुम लोगों को मेरे साथ रहते हुए एक वर्ष से अधिक बीत गया। जहाँ तक मैं जानता हूँ, तुम सभी ब्रह्मचर्य के नियमों का विधिपूर्वक पालन करते रहे। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम सब में कुछ संतोष का उदय भी हुआ है या अभी नहीं? क्योंकि सन्तोष ही मन समेत इन्द्रियों के स्ववश होने का मुख्य लक्षण है।'

कबन्धी विनत स्वर में हाथ जोड़ कर बोला—'पूज्य गुरुदेव! हमें जो कुछ प्राप्ति हुई है वा जो कुछ साधन हम कर सके है वह सब आपकी संगति का फल है। अब हमें नेत्र, कान, आँख, नाक, त्वक् आदि इन्द्रियों के कारण कभी विक्षोभ नहीं होता! मन में उठने वाली संशय की लहरियों से अब हमें परेशानी भी नहीं उठानी पड़ती, आपके समीप रहने का ही यह महान् फल है। क्योंकि पहले तो ऐसा

कभी नहीं अनुभव होता था।'

महात्मा पिप्पलाद कबन्धी की बातों से कुछ गम्भीर बन गये और थोड़ी देर तक निर्निमेष नेत्रों से उसकी ओर निरखते रहे। उधर कबन्धी की तेजस्वी आंखें गुरु के पदनख पर टिकी थी और उसके मद का उल्लास मुखमण्डल पर नाच रहा था। पिप्पलाद ने कहा—'वत्स! मैं अब तुम्हें ब्रह्म-विद्या का पूर्ण अधिकारी मानता हूँ। तुम्हे जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछ सकते हो!'

कबन्धी कृतार्थ हो गया। उसकी साधना की सफलता पर गुरु की मुहर लग गई। वीतराग महात्मा पिप्पलाद की इस उद्घोषणा ने उसके रोम-रोम को अनुगृहीत बना दिया। उसने उठकर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। उसकी आँखो में कृतज्ञता के बिन्दु छलछला आये। पिप्पलाद ने कबन्धी को पीठ पर अपना दाहिना हाथ फेरते हुए फिर कहा—'वत्स! तुम्हारी साधना पर मै सन्तुष्ट हूँ, तुम जो कुछ पूछना चाहो मुझसे पूछ सकते हो।'

कबन्धी ने हाथ जोड़ कर कहा—'गुरुदेव! मै जानना चाहता हूँ कि इस चराचर जगत् मे जो यह सब प्राणी विद्यमान है, वे कहाँ से जन्म लेते है? मेरे मन में केवल यही एक सन्देह अभी तक बना हुआ है।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा—'वत्स! यह प्रश्न कुछ टेढा है, तनिक ध्यान देकर समझना, मै कुछ विस्तार के साथ इस प्रश्न को तुम्हे समझा रहा हूँ।'

कबन्धी निर्निमेष नेत्रो से पिप्पलाद के मुखमण्डल की ओर ताकने लगा, उसके दोनों कान महात्मा पिप्पलाद के उपदेशामृत को पान करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे।

पिप्पलाद बोले—'वत्स कबन्धिन्! इस चराचर संसार में जितने भी जीव समूह है उन सब के रचयिता प्रजापति ब्रह्मा हैं। प्राणियों की रचने की इच्छा से उन्होंने घोर तप (एकाग्र चिन्तन) किया और पूर्ण रूप से अपने चित्त को जाग्रत किया। चित्त को जाग्रत कर उन्होंने सृष्टि

रचना का संकल्प किया और इसी के लिए अन्न और प्राण के जोड़े की उत्पति की। इन्हीं अन्न और प्राण के संयोग से संसार में अनेक प्रकार की प्रजाओं को सृष्टि हुई। इन दोनों—अन्न और प्राण—पदार्थों में अन्न चन्द्रमा और प्राण (प्राण रूप अग्नि के अधिष्ठाता) सूर्य हैं।

प्रातःकाल यह सूर्य पूर्व दिशा में उदित होकर पूर्व दिशा के सब प्राणियों को अपनी जीवनदायिनी किरणों से प्रकाश बिखेर कर छा लेता है और उसी प्रकार मध्याह्न में दक्षिण और सायंकाल पश्चिम दिशा में प्रकाश फैला कर वहाँ के प्राणियों को अपनी किरणों से व्याप्त कर लेता है। और इसी प्रकार उत्तर, ऊपर, नीचे और बीच में सर्वत्र अपने प्राण-दायी प्रकाश को वह फैलाता है और उन सब स्थानों में रहने वाले प्राणियों को अपनी जीवनदायिनी किरणों से छा लेता है। इस प्रकार वह सूर्य सर्वव्यापी आत्मा का ही स्वरूप है। उसी से चराचर संसार के सभी जीव गण जन्म धारण करते हैं।'

कबन्धी विस्मित नेत्रों से अस्तंगत सूर्य की ओर ताकने लगा। गुरु की गंभीर वाणी में उसकी भावना को विश्वास का सम्बल तो मिल गया, पर मन की पूरी गाँठ सुलझ नहीं सकी। वह विनत स्वर में फ़िर बोल उठा—'गुरुदेव। उस सूर्य का व्यापक स्वरूप मै फिर जानना चाहता हूँ।'

पिप्पलाद थोड़ी देर तक चुप रहकर बोले—'वत्स। वह सूर्य विश्वरूप है, अनन्त किरणों वाला है, यही कारण है कि इस विशाल संसार में उसकी किरणों की स्थिति सर्वत्र निर्बाध है। वह ज्ञानवान् है, सब प्राणियों का आश्रय स्वरूप है। समस्त जगत् का नेत्र रूप भी वही है अर्थात् उसी के कारण संसार में आँखवालों को देखने की शक्ति प्राप्त होती है। यही नहीं प्राणियों के प्राण रूप अग्नि उसी के तेजःपुञ्ज के लघुकण हैं। ठीक उसी तरह जैसे बहुत बड़े अंगारे की एक छोटी चिनगारी।'

कबन्धी ने कहा—'गुरुदेव। यह बात तो मेरी समझ में आ

गई, पर मै यह जानना चाहता हूँ कि उस सूर्य को यह (हम) प्राणी किस प्रकार प्राप्त कर सकते है, और उसकी स्थिति और गति किस प्रकार की है ?'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! सूर्य द्वारा निर्मित संवत्सर को ही तुम प्रजापति ब्रह्मा समझो ? उस सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन दो मार्ग है। जो लोग इस संसार में जन्म लेकर अपनी सांसारिक आकांक्षाओं एव अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र एवं विषय-भोगादि की कामना से कर्म-जाल में निरत रहते है, वह सब दक्षिणमार्ग को प्राप्त करते है, वह पितरो का अथवा मृत्यु का मार्ग कहा जाता है। ऐसे सभी लोग उस दक्षिण मार्ग द्वारा चन्द्रमा का लोक प्राप्त करते हैं। और बारम्बार अपने कर्मों के अनुसार जन्म धारण करते और मरते रहते है। परन्तु इसके विपरीत जो लोग ब्रह्मचर्य, तपस्या, श्रद्धा और ज्ञान के द्वारा आत्म-स्वरूप की खोज करते है और धीरे-धीरे उस प्राण रूप सूर्य का वास्तविक स्वरूप पहचान लेते हैं, वह उत्तर मार्ग से जाकर अमरों का सूर्य लोक प्राप्त करते है: वही सूर्य लोक समस्त प्राणों का अविनश्वर आश्रम है। जो लोग एक बार इसे प्राप्त कर लेते है वह फिर कभी लौट कर यहाँ नही आते। यह सूर्य प्राणियों के जन्म-मरण के चक्कर को अवरुद्ध करता है, इसीलिए उसे 'निरोध' भी कुछ लोग कहते है।

इस परमपिता सूर्य की सत्ता के सम्बन्ध में विद्वानों की विविध सम्मतियाँ है। जो लोग केवल काल का ज्ञान रखते है वह कहते हैं कि पाँच ऋतुएँ इस सूर्य के पांच चरण हैं। ऐसे लोगों की सम्मति में हेमन्त और शिशिर ऋतु की अलग सत्ता नही है। वह लोग यह भी मानते है कि चैत्र आदि बारह मास उसके बारह अंग हैं। इस समस्त चराचर सृष्टि का जन्मदाता होने के नाते वह सब का आदि पिता है। पर कुछ दूसरे विद्वानो की सम्मति में वह सर्वज्ञान स्वरूप है, और सचराचर जगत् के सूक्ष्म रूप का जन्मदाता है, जैसे कि मैं अभी तुम से बता चुका हूँ। वह सात

प्रकार की रंगीन किरणों से सुशोभित होने के कारण सातों ज्ञान चक्रों से सुशोभित और वसन्त आदि छहों ऋतुरूपी अरे से बने हुए काल रूपी रथ पर समासीन है। इसी सूर्य में समस्त चराचर जगत् प्रतिष्ठित होकर रथ के पहियों की तरह सर्वदा घूमता रहता है, कभी एक स्थिति वा एक प्रतिष्ठा में वह नहीं रह सकता। हे तात! इनमें से कोई भी सम्मति मानी जाय, परन्तु यही सूर्यरूपी ब्रह्म स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूपों से समस्त चराचर सृष्टि का आदिम और एकमात्र कारण है। इसी से समस्त जगत् के प्राणी जन्म-लाभ करते हैं।'

महात्मा पिप्पलाद की इन बातों से कबन्धी का सन्देह निराकृत हो गया। उसकी आँखें एक अपूर्व ज्योति की आभा से चमक उठीं और उसका निर्मल हृदय सात्त्विक आनन्द के अतिरेक से उमड़ पड़ा। वह गुरु चरणों की पवित्र धूल को अपनी आँखों में लगा कर परम तेजस्वी बन गया।

[२ वैदर्भि]

कबन्धी के इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर पहुँचने पर उसके साथियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। दूसरे दिन प्रातःकाल महात्मा पिप्पलाद ने भृगुगोत्रीय विदर्भ के पुत्र वैदर्भि को बुलाया और उसे भी सामने बैठने का निर्देश करते हुए कहा—'वत्स वैदर्भि ! मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हारी मानसिक व्याधियाँ दूर हुईं या अभी नहीं !'

वैदर्भि ने विनम्र भाव से हाथ जोड़ कर कहा—'पूज्य गुरुदेव ! इस संसार में ऐसा अभागा प्राणी कौन होगा जो इतने दिनों तक आप के चरणों के समीप रहकर भी मानसिक व्याधियों का शिकार बना रहे। मेरा मन अब इन्द्रियों को साथ लेकर पहले की तरह मुझे परेशान नहीं करता, उस पर बुद्धि का पूरा नियंत्रण है। अब मुझे तर्क-वितर्क या सन्देहों के जाल में भी बहुत कम फँसना पड़ता है। निश्चय ही यह सब आप की संगति का महान् फल है।'

महात्मा पिप्पलाद ने थोड़ी देर तक वैदर्भि की बातों पर विचार कर लेने के बाद पूछा—'वत्स वैदर्भि। तुम्हें अब क्या जानना शेष है ? तुम्हारे मन में जो कुछ संशय वा वितर्क हो उसे मुझ से दूर कर सकते हो।'

वैदर्भि बोला—'पूज्य गुरुदेव ! मैं जानना चाहता हूँ कि पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु, ये पांच महाभूत, नेत्र आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी आदि पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और प्राण—इन सब तत्त्वों के कितने देवता हैं, जो प्राणी के शरीर को धारण करते हैं। उन समस्त देवताओं में से कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं और उन में श्रेष्ठ कौन है ?'

वैदर्भि के प्रश्न को सुनकर महात्मा पिप्पलाद मुसकराये और थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोले—'वत्स ! यह सब देवता पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र अर्थात्

कान हैं। यह सभी मिलकर प्राणी के शरीर को धारण करते हैं, सब परस्पर के सहयोग से ही इसे प्रकाशित करते है और इन सब में श्रेष्ठ प्राण है। इस प्रसंग में मैं तुझे एक आख्यायिका बतला रहा हूँ, जो वड़ी मनोरजक है।

एक बार इन सभी इन्द्रियों में परस्पर बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि सब से बड़ी कौन इन्द्रिय है ? सब अपने-अपने को बड़ी और दूसरी को छोटी बतलाने लगीं। आँख को अपनी वीक्षण शक्ति पर बड़ा गर्व था, उसने ऐंठते हुए कहा—'तुम सब मेरे ही भरोसे पर अपना-अपना काम करती हो, यदि मैं एक क्षण के लिए भी बैठ जाऊँ तो सारा शरीर निकम्मा और व्यर्थ बन जायगा।' वाणी ने गरज कर नेत्र आदि सभी इन्द्रियों को चुप रहने का आदेश देते हुए कहा—'मेरे बिना तो एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। मैं आँख, कान आदि सभी इन्द्रियों के अभाव में शरीर को धारण किए रह सकती हूँ।' कान ने खड़े हो कर वाणी को सम्बोधित कर कहा—'वाणी रानी ! तुम सब कुछ चिल्ला कर क्या कर सकती हो यदि मैं तुम्हारी सहायता न करूँ। मेरे बिना तुम सब का अस्तित्व खतरे से बाहर नहीं रहेगा।' मन अभी तक सब की बातें चुपचाप सुन रहा था। उसे इन क्षुद्र इन्द्रियों की बातें अब और सुनना कठिन हो गया। अपनी सहज अकड़ से गंभीरता प्रकट करते हुए वह बोला—'इन्द्रियो ! तुम सब तो मेरे वाहन स्वरूप हो। अपने इशारे पर जहाँ चाहूँ तुम्हे नचा सकता हूँ। तुम सब में अब इतना भ्रम फैल गया है कि मेरे सामने इस तरह की ऊल-जलूल बातें बक रही हो। मेरा नियंत्रण यदि तुम सब पर से एक क्षण के लिए भी हट जाय तो तुम सब निकम्मी और बेकार बन जाती हो। नेत्र ! तुम में जो सब कुछ देखने का गर्व समाया हुआ है, वह दूसरा कुछ नहीं, केवल मेरी इच्छा है, मैं यदि चुप रहूँ तो तुम खुले रह कर भी कुछ नहीं पकड़ सकते। कान भाई ! तुम तो नेत्र से भी गये-

गुजरे हो। देखते नहीं, जब सोते समय मैं तनिक देर के लिए विश्राम करने लगता हूँ तो तुम खुले रह कर भी कुछ नहीं ग्रहण कर सकते। वाणी रानी! मेरे सहयोग के बिना तो तुम्हारी कोई पूँछ नहीं हो सकती। लोग तुम्हे पागलों का प्रलाप कह कर अपमानित कर देंगे, ठोकर मिलेगी। जो तुम्हे अपनी मृदुता और योग्यता का घमड है सो वह भी मेरे ही सहयोग का फल है।' मन ने इस तरह अपनी गभोर मुद्रा से थोड़ी देर के लिए सभो इन्द्रियों को चुप तो कर दिया; पर यह चुप्पी थोड़ी ही देर में फिर टूट गई। वाणी ने गरजते हुए फिर कहा—'मन भाई! तुम्हारी क्या सत्ता है। तुम तो हम सबों पर आश्रित हो, यदि हम सब तुम्हारा सहयोग करना छोड़ दें तो तुम एक क्षण भी अपना व्यापार नहीं चला सकते। मुझी को लो, यदि मैं तुम्हारा सहयोग करना छोड़ दूँ तो बताओ कि तुम अपनी अभिलाषा किस तरह प्रकट कर सकते हो।' अविवेकी चचल मन मान गया, वाणी की धाक, उस पर सदा के लिए जम गई। पर इसका परिणाम यह हुआ कि वाणी ने सभी इन्द्रियों को धता बताना शुरू किया। नेत्र, कान आदि शक्तिशाली इन्द्रियाँ वाणी के विरोध में अपने तर्क पेश करती रहीं, झगड़ा बढ़ता गया और उग्र से उग्रतर बन गया। आखिरकार उन सबको फैसले के लिए पचायत कराने की बात माननी पड़ी। सब मिलकर महान् शक्तिशाली प्राणों के दरबार में गई। प्राण उनकी इस मूर्खता पर मुसकरा रहे थे। उन सब की फैसला करने की प्रार्थना सुनकर प्राण ने कहा—'इद्रिय वृन्द! तुम सब में जिसके न रहने से शरीर व्यर्थ हो जाय वही सब से बड़ी है। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम सब में कौन अपने को सबसे बड़ा मानता है।'

वाणी अपनी सहज अकड़ को अभी भूली तो थी नहीं, गरजते हुए बरस पड़ी—'सौम्य! मेरे न रहने पर इन सब की जो दुर्दशा होगी उसे आप स्वय देखें। मैं एक वर्ष के लिए इन्हें छोड़कर जा रही हूं, इतने दिनों तक मेरे कारण इन्होंने जो आनन्द उठाया है वह मेरे चले

जाने पर मालूम होगा।' यह कह कर गर्व में भरी वाणी प्राण के दरबार से इन्द्रियों को छोड़ कर चली गई और सब इन्द्रियाँ मूक शरीर में पूर्ववत् कार्य सम्पादन करती रहीं। थोड़ी देर तक शरीर को कुछ असुविधा जरूर हुई, पर इतनी नहीं कि उसका अस्तित्व खतरे में पड़े। धीरे-धीरे वाणी के अभाव को शेष इन्द्रियों ने प्राण और मन के संयोग से पूरा कर दिया और शरीर का सब व्यापार सुगमता से चलने लगा।

एक वर्ष बाद वाणी इस बड़ी आशा से भरी हुई शरीर में वापस आई कि चलते ही सब इन्द्रियाँ उसका स्वागत करने दौड़ेंगी। विशेष कर मन तो उमड कर लिपट जायगा, पर यहाँ तो कुछ दूसरा ही हाल था। उसने देखा कि चारों ओर सब इन्द्रियाँ उस पर व्यंग्य कस रही हैं। उसके वापस लौटने पर स्वागत को कौन कहे, किसी ने सीधी बातें भी नहीं कीं। उसका गर्व तो गल कर नष्ट हो गया; पर उसकी निर्लज्जता अभी नहीं गई थी। बनावटी ढंग से मुसकराते हुए वह बोली—'भाइयो! मेरे न रहने पर तुम सब की खूब दुर्गति हुई होगी। मैं देख रही हूँ कि तुम सब बहुत निर्जीव और निश्चेष्ट बन गए हो। निश्चय ही मेरी अनुपस्थिति में तुम सब मृतक के समान हो गए हो।'

इन्द्रियों ने समवेत स्वर में उत्तर दिया—'वाणी बहिन! तुम्हारे न रहने से हमें तनिक-सी असुविधा पहले हुई जरूर थी, किन्तु मृतक होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहा। थोड़े दिनों के बाद हम सब मिलकर तुम्हारा काम भी पूरा करने लगे। विशेष कर मन ने तो तुम्हारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हम सबों से करा ली। यदि तुम दो चार वर्ष की कौन कहे, दस-बीस वर्ष भी न रहो तो शरीर का कोई अनिष्ट नहीं होने पायेगा।'

इन्द्रियों से यह बातें सुनकर वाणी की मुखरता और कृत्रिम मुसकराहट भीतर ही भीतर विलीन हो गई। वह निःसंज्ञ-सी चुपचाप बैठ कर अपने किए पर पछतावा करने लगी। अन्त में महान् शक्ति-

शाली प्राण ने कहा—'इन्द्रियो ! तुम सब अज्ञान अन्धकार में भटक रही हो। मिथ्था अभिमान में पड़कर तुम सब अपनी रही सही प्रतिष्ठा को नष्ट मत करो। मैं ही अपने को पाँच भागों में बाँट कर इस शरीर मैं सर्वत्र व्याप्त रहता हूँ। इस सारे शरीर का नख से लेकर शिख तक का धारण करने वाला अकेला मैं ही हूँ।'

प्राण की बात इन्द्रियों को बड़ी अटपटी और अविश्वास के योग्य जँची, विशेषकर मन और आँख को तो बड़ी ही झुँझलाहट हुई। प्राण को इन्द्रियों के इन भीतरी अविश्वास का पता लग गया। उसने कहा—'मैं अपनी बात की प्रतीति दिलाने के लिए शरीर से बाहर जा रहा हूँ, तुम सब मिलकर इसे धारण करो।' ऐसा कहकर प्राण अपने समस्त रूपों के साथ शरीर से बाहर निकल गया। फिर तो इन्द्रियाँ बहुत सचेष्ट होकर भी शरीर को तनिक देर के लिए संभाल नही सकीं। मन की सारी इच्छाएं, आँख की सारी चेष्टा और कान आदि की सारी क्रियाएँ निष्फल हो गयी। प्राण के साथ ही उन सब का स्पन्दन जाने कहाँ विलीन हो गया। थोड़ी देर तक सारा शरीर निश्चेष्ट, निस्पन्द और निःसंज्ञ पड़ा रहा। आँखे खुली है पर रूप ग्रहण की शक्ति उनमें नहीं है, कान खड़े है, पर समीप मे होने वाले शब्द का उनसे कोई मतलब नही है। मुख पर मक्खियाँ भिनभिना रही है परन्तु न तो वाणी में निषेध करने की शक्ति है और न हाथों में उठकर उन्हे उड़ाने की इच्छा है। इस प्रकार थोड़ी देर तक शरीर के पड़े रहने के बाद प्राण वापस चले आये, उनके प्रवेश करते ही सब इन्द्रियाँ भी अपनापे को प्राप्त हुई। हाथ ने उठकर मक्खियों को दूर किया, वाणी ने अपनी व्यथा को प्रकट करते हुए 'उफ' का उच्चारण किया और मन ने अपनी इच्छा से शरीर को उठाकर पैरों पर खड़ा कर दिया। इस प्रकार इन्द्रियों ने यह समझ लिया कि इस शरीर में सब से प्रधान कौन है। और किनका कितना महत्व है। वाणी ने तो अपनी भूल स्वीकार कर प्राणों की विशेष विनती की।'

पिप्पलाद ने कहा—'हे वत्स ! इस प्रकार निखिल ब्रह्मण्डल में प्राण ही एकमात्र सर्वशक्तिमान् हैं। यही प्राण 'अग्नि रूप से प्रज्ज्वलित होता है। सूर्य रूप से समस्त जगत् में प्रकाश फैलाता है, इन्द्ररूप से प्रजा का पालन एवं असुरों का विनाश करता है, मेघ से वृष्टि करके सारी प्रकृति को शान्ति देता है। सात प्रकार के वायु रूप में सृष्टिचक्र को गतिमान् बनाता है और चन्द्रमा के रूप में समस्त अन्न एवं ओषधियों को जीवन दान देकर स्निग्धता बरसाता है। इस विनाशी विश्व में सत् वा असत्, स्थूल वा सूक्ष्म जो कुछ भी पदार्थ तुम देख रहे हो सब का एक मात्र कारण यही प्राण है, वही सबको धारण करता है, उसी का नाम अमृत वा अविनाशी भी है, क्योंकि वह न तो कभी मरता है और न कभी विनाश को प्राप्त होता है। हे तात ! हाथ, पैर, नेत्र, श्रोत्र आदि जो कभी इन्द्रियग्राम वा शरीरस्थ देवता है वह सब उसी प्राण के अनुगामी है। जिस प्रकार मधु के छत्ते से मक्खियों की रानी उड़कर जब चली जाती है तब सब की सब मक्खियां भी उसी के पीछे उड़ जाती है और जब वह आकर बैठती है तब सब आकर बैठ जाती है उसी प्रकार शरीर से प्राण के चले जाने पर यह सभी इन्द्रियाँ भी चली जाती है, और स्थित रहने पर स्थित रहती है। रथ के पहिये की नाभि (धुरी) में जिस तरह सब अरे आकर स्थिति पाते है, उसी प्रकार इस प्राण में समस्त चराचर जगत् स्थित है। संसार मे स्थित स्थूल पदार्थ ही नहीं वरन् ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम वेदादि में जो ज्ञान की चर्चा की गई है वह सब भी इसी प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। संसार में जो कुछ भी यज्ञ-यागादि एवं कर्मकाण्ड के जाल बिछे हुए है, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का रूप धारण कर उन सब का करने-वाला यह प्राण ही है। वत्स ! अब मैं समझता हूँ कि तुम्हारे मन में शरीरस्थ देवताओं की स्थिति के बारे में जो सन्देह रहा है, वह दूर हो गया होगा। प्राण की महत्ता के बारे में यदि तुम्हें अब भी कुछ सन्देह बना हो तो मुझसे पुनः पूछ कर उसको दूर कर सकते हो।'

वैदर्भि के निश्छल हृदय में प्राण-विद्या के इस शुभ्र प्रकाश की किरणें अठखेलियाँ कर रही थीं और सन्देह के बादलों का कहीं कोई पता भी नहीं था। उसने हाथ जोड़ कर विनीत स्वर में कहा—'गुरुदेव ! प्राण की महत्ता और शरीरस्थ इन्द्रिय देवताओं की अवस्थिति और प्रतिष्ठा में अब मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है।'

सचमुच वैदर्भि को अब इस सचराचर जगत् के बारे में कोई जिज्ञासा शेष नहीं थी। उसने अपने कुश के आशन से उठकर गुरु के चरणरज को अपने शिर और आँखों में लगाया और उनकी आज्ञा से अपने कुटीर को वापस हुआ। वहाँ चारों साथी उसकी उत्सुक-प्रतीक्षा में विह्वल हो रहे थे। वहाँ पहुँच कर उसने गुरु को बतलाई हुई प्राण-विद्या का पूरा व्याख्यान अपने साथियों को सुनाया। उस समय उसके मानस में पूर्ण सन्तोष का समुद्र उमड़ रहा था और सुन्दर मुख पर शान्तियुत सुप्रसन्नता की रेखाएँ नाच रही थीं।

[३ कौशल्य]

तीसरे दिन नित्य क्रम के अनुसार महात्मा पिप्पलाद ने सन्ध्या-वन्दन एवं पूजा-पाठ से छुटकारा पाकर महर्षि अश्वल के पुत्र कौशल्य को अपने समीप बुलाया और बैठने का इशारा कर पूछा—'वत्स कौशल्य ! तुम्हें ब्रह्मचर्य के नियमों को कठोरतापूर्वक पालन करने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उनको तुम बिता चुके हो। मैं समझता हूँ कि अब तुम मानसिक व्याधियों को भी दूर कर चुके हो। मन समेत इन्द्रियों को जीतने में शुरू-शुरू में कठीनाई जरूर होती है पर बाद में जो सच्चा सुख और जो सच्ची शान्ति मिलती है उसका अनुभव भी तुम्हें हुआ होगा। मैं जानना चाहता हूँ कि अब तुम्हें संसार में क्या जानना शेष है। तुम्हारे मन में जो भी सन्देह हो उसे मुझसे पूछ सकते हो।'

कौशल्य अनुगृहीत हो गया। उसे अपने वीतराग, संसार से विरक्त रहनेवाले उदासीन प्रकृति के गुरु से इतनी सहृदयता और सहानुभूति की आशा नहीं थी। उसकी रोमावलि खड़ी हो गई और प्रयत्न करने पर भी वाणी कण्ठ में रुद्ध हो गई, आँखों में प्रसन्नता के आँसू उमड़ पड़े। थोड़ी देर तक सँभलने के बाद वह हाथ जोड़कर बोला—'पूज्य गुरुदेव ! आपके चरणों की सुखदायिनी छाया ने हम जैसे अभागों को भी इस योग्य बना दिया कि अब संसार में कुछ भी जानना शेष नहीं है। आपके यहाँ आने के पूर्व मैंने शास्त्रों को कण्ठस्थ किया था, कर्मकाण्डों का अभ्यास किया था, प्रतिवादी और जिज्ञासु को चुप करने का तर्क सीखा था, पर सच्ची शान्ति और ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने का वास्तविक सुख कभी लेशमात्र भी नहीं प्राप्त कर सका था। अशान्ति और संशय के बादलों में विद्या के शुभ्र प्रकाश का सुख उठाने का कभी क्षणमात्र का भी अवसर नहीं मिला था। परआपकी संगति ने आज मुझे आनन्द-समुद्र में निमज्जित-सा कर

दिया है। गुरु देव ! मुझे अब केवल एक ही प्रश्न पूछना है। वह यह कि कल आपने भाई वैदर्भि को उपदेश करते समय जिस प्राण की महत्ता बतलाई है उसके बारे में मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह प्राण कैसे और कहाँ से उत्पन्न होता है ? वह किस प्रकार इस शरीर में प्रवेश करता है। प्राण और इन्द्रियों के संवाद में आपने बतलाया था कि सारे शरीर में एक प्राण ही पाँच रूपों में विभक्त होकर स्थित रहता है, इस प्रसंग में मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि अपने आपको विभक्त करके यह किस प्रकार स्थित रहता है ? इस शरीर से यह बाहर किस प्रकार निकलता है ? और किन उपायों से यह बाहरी और भीतरी विषयों को धारण करता है ? भगवन् ! इस विषय को लेकर मेरे मन में सन्देह फैल रहा है, कृपा करके इसे निवारित कर मुझे अपनी सर्वज्ञता का प्रसाद दीजिए।'

महात्मा पिप्पलाद ने कौशल्य की बातें ध्यानपूर्वक सुनीं। उसकी सरलता और निश्छलता का उनपर भी थोड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ देर तक सोचने-विचारने के बाद बोले—'वत्स कौशल्य ! प्राण के बारे में तुम बड़ी गूढ़ बातें पूछ रहे हो। तुम्हारी निर्मल मति को देखते हुए मुझे विश्वास है कि इस विषय में मैं जो बाते तुम्हें बताऊँगा, उन्हे धारण करोगे। ब्रह्म-विचार में निरत रहनेवाले तुम्हारे जैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी शिष्य के लिए मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है। सुनो, प्राण के बारे में मैं विस्तारपूर्वक तुम्हे बतला रहा हूँ। वत्स ! इस सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है। जैसे दिन हो या रात मनुष्य के पीछे उसकी छाया सदा लगी रहती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ वह प्राण रूपी छाया सदा लगी रहती है। आत्मा को छोड़कर उस प्राण की कोई स्थिति नहीं है। यह प्राण मन के संकल्प से कामना अर्थात् अभिलाषा में और कामना से भौतिक शरीर में प्रवेश करता है। यही सारे शरीर का एक मात्र स्वामी है, शरीरस्थ इन्द्रियों में जो अलग-अलग प्राणों की स्थिति प्रतीत होती है वह सब

इसी के अनुगामी वा अन्तर्भूत हैं। यह प्राण ही इन सबको अपनी-अपनी सीमा में विशेष-विशेष प्रकार के कामों को करने के लिए नियुक्त करता है। इसे इस तरह समझो कि जिस-प्रकार कोई सम्राट् अपने अधीन रहनेवाले छोटे-मोटे करद राजाओं को यह कहकर नियुक्त करता है कि तुम अमुक स्थान पर जाकर इतने अधिक देशों पर अपना अधिकार जमाओ, उसी प्रकार यह प्राण भी अपने अधीनस्थ शरीरगत अन्यान्य प्राणों को अनुशासित करता हैं। उसके विभाग इस प्रकार हैं। मनुष्य शरीर के निचले भागों में वह अपान वायु को प्रतिष्ठापित करता है, स्वयं श्रेष्ठ इन्द्रिय मुख और नाक के छिद्रों से निकलकर आँखों और कानों में प्रवेश करता है। बीच पेट में समान वायु को अवस्थित करता है, जिसका काम पेट की अग्नि में आहुति रूप में डाले गए अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुँचाना है। इसी प्रकार उदान रूप में वह कण्ठ में अपना एक रूप प्रतिष्ठित करता है जो छींक, जम्हाई आदि के रूप में कभी-कभी मुख से विकृत होकर बाहर निकलता है। प्राण का पाँचवाँ रूप व्यान है जो समस्त शरीर में व्यापमान रहता है। वास्तव में इन पाँचों का मूल रूप एकमात्र प्राण ही है, पाँच रूपों में उसकी अवस्थिति प्राणधारियों में शरीर के रक्षार्थ ही होती है। पेट में स्थित जिस अग्नि की बात मैंने अभी कही है, उसका काम हैं पेट में हवन किए गए अन्न को पचा कर सारे शरीर को पोषक तत्त्व देना। पेट की इस अग्नि में जब अन्नादि की आहुति होती है तब उससे सात ज्योतिर्मयी लपटें ऊपर की ओर निकलती हैं, जो दोनों आँखों, दोनों कानों, नाक के दोनों छिद्रों तथा मुख को अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म का प्रकाश बिखेरती रहती हैं।'

कौशल्य ने कहा—'भगवन् ! आपने जिस आत्मा की चर्चा की है, प्राण छाया की भाँति जिसके अनुगामी रहते हैं, उसकी स्थिति मनुष्य-शरीर में कहाँ होती है ? प्राण उसका अनुगमन किस प्रकार

करता है, इस बात को तनिक सरल करके समझाइये।'

पिप्पलाद बोले—'वत्स ! वह आत्मा निश्चित एवं स्थायी रूप से हृदय में अवस्थित है। कहा जाता है कि इसी हृदय से एक सौ एक मुख्य नाड़ियाँ जुटी हुई हैं, जो सारे शरीर में ऊपर से लेकर नीचे तक फैली हुई हैं। उन मुख्य नाड़ियों में से प्रत्येक के साथ सौ-सौ शाखा (छोटी) नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं, जो प्रत्येक अंगों के छोटे-छोटे उपांगों में हृदय के स्पन्दन का सम्बन्ध जोड़ती हैं। उन छोटी-छोटी शाखा-नाड़ियों में और भी छोटी-छोटी नाड़ियाँ सम्बद्ध होती हैं। मैंने जिस व्यान नामक वायु की चर्चा अभी ऊपर की है वह इन्हीं सब नाड़ियों में सदा विचरण करती रहती है। सोते-जागते, उठते-बैठते मानव के शरीर में वह सदा अविराम गति से प्रवहमान रहती है। हृदय में स्थित अविकारी आत्मा का अनुगमन इसी प्रकार प्राण करते है। हे तात ! मैंने जिन एक-सौ-एक नाड़ियों की चर्चा ऊपर की है उनमें से एक सुषुम्ना नाम की नाड़ी ऊपर की ओर जाती है उसी में होकर प्राण का एक रूप उदान वायु—जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है—प्रवहमान होती है। यही उदान वायु मनुष्य के पाप, पुण्य कर्मों का फल मिलाने में कारण बनती है। मनुष्य अपने सात्विक पुण्यकर्मों द्वारा पुण्य देवलोक या स्वर्ग, तामस पापकर्मों द्वारा पापलोक या नरक तथा पाप-पुण्यमय राजसिक कर्मों द्वारा मनुष्य लोक को प्राप्त करता है। सुषुम्ना नाड़ी में संचरण करनेवाली यह उदान मनुष्य की विचार शक्ति के केन्द्र मस्तिष्क में भी गतिमान है, इसी परम्परा सम्बन्ध से इस वायु को पुण्य-पापमय लोकों को प्राप्त करानेवाली बतलाया गया है।'

कौशल्य और गम्भीर बन गया। थोड़ी देर तक चुप रहकर उसने निवेदन किया—'पूज्य गुरुदेव ! आपने जिस प्राण की चर्चा की है वह तो शरीरस्थ ही है न ! बाहरी जगत् में उसके पाँच स्वरूप

क्या-क्या हैं और शरीरस्थ प्राण किस प्रकार शरीर से बाहर निकलकर दूसरा शरीर धारण करता है ? कृपया इस विषय को मुझे विस्तारपूर्वक बताइये।'

पिप्पलाद मुसकराये। बोले—'वत्स ! तुम्हारी बातों की सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। मैं तुम्हें यह विषय और समझा रहा हूँ, ध्यान पूर्वक सुनो। मनुष्य के शरीर में अवस्थित प्राण की भाँति ही बाह्य जगत् में भी उसके पाँच स्वरूप हैं। शरीर में अवस्थित उस प्राण का, जो नेत्र में ज्योति रूप से उपकारक होता है, विराट स्वरूप आकाश में अपनी कोमल प्रखर, प्रचण्ड किरणों-वाला सहस्त्ररश्मि सूर्य है। जैसे नेत्र के बिना हम कुछ नहीं देख सकते, उसी प्रकार इस सूर्य के बिना बाह्य जगत् में भी कुछ नहीं देखा जा सकता। बाह्य जगत् की अपान वायु पृथ्वी के भीतर अवस्थित है उदरस्थ समान वायु बाह्य जगत् के मध्य आकाश में व्याप्त है। मध्य आकाश मण्डल के ऊपर व्यान वायु का संचार है चारों ओर सभी दिशाओं में जो तेज व्यापमान है, वह बाह्य जगत् में अवस्थित उदान वायु का कार्य है। हे तात ! जिस शरीरधारी का तेज शान्त हो जाता है उसकी सभी इन्द्रियाँ मन में समाविष्ट हो जाती हैं। इन्हीं इन्द्रियों से आविष्ट सूक्ष्म मन के साथ आत्मा तेजोविहीन शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। मृत्यु के समय उस जीव की चित्तवृत्ति जैसी होती है, उसी के अनुसार वह अभिनव प्राण को प्राप्त करता है। प्राण तेज से युक्त होकर जीवात्मा को उसी प्रकार के लोक में पहुँचा देता है, जो उसके मन वा चित्त की वृत्तियों के अनुकूल होता है। हे वत्स ! जो ज्ञानी पुरुष तुम्हारी तरह सर्वशक्तिमान् प्राण की इस विशेषता को जान लेता है उसका वंश कभी नष्ट नहीं होता, और वह मृत्यु का भय भी कभी प्राप्त नहीं करता। सचमुच वह अमर बन जाता है। आत्मा की साधना में लीन योगी-जन इन्हीं ऊपर कही गई बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, जिनको मैंने तुम्हें बत-

लाया है। उन्हें यह सब बातें प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात हो जाती हैं कि प्राण की उत्पत्ति कहाँ से और किस प्रकार से होती है। नये शरीर में उसका प्रवेश कैसे होता है, उसकी स्थिति क्या है, उसकी महनीयता एवं प्रभुता का कारण और स्वरूप क्या है, उसके पाँच प्रकार के वृत्ति-भेद की विशेषताएँ क्या हैं? योगाभ्यास में निरत साधक जब इन आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रत्यक्ष द्रष्टा बन जाता है तब वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है।'

कौशल्य धन्य हो गया। उसका मुखमण्डल ब्रह्मचर्य की प्रखर आभा से प्रदीप्त हो गया, अमृतोपमसंन्तोष और शान्ति के सरोवर में निमज्जित की भाँति उसके सभी सन्ताप दूर हो गए। कृतज्ञता के उन्मेष में भरकर वह महात्मा पिप्पलाद के चरणों से लिपट गया। महात्मा ने अपने सच्चे जिज्ञासु शिष्य कौशल्य को उठाकर छाती से लगा लिया और यह आशीर्वचन कहते हुए जाने की आज्ञा दी कि—'वत्स! इस संसार में तुम्हें कोई वस्तु अज्ञात नहीं है।'

गुरु की चरणों की पवित्र धूल लगाकर कौशल्य अपने कुटीर की ओर वापस लौटा, जहाँ उसके साथी उत्सुक नेत्रों से उसका मार्ग देख रहे थे। वहाँ पहुँचकर उसने अपने साथियों को अभिवादन किया और गुरु से प्राप्त की गई प्राण-विद्या के व्याख्यान को यथामति कह सुनाया।

———

[४ सत्यकाम]

अगले दिन सवेरे प्रात:काल की सन्ध्या-पूजा समाप्त कर महात्मा पिप्पलाद ने नित्य क्रम के अनुसार शिवि के पुत्र सत्यकाम को अपने समीप बुलाया। सत्यकाम की उमर अपने साथियों में सब से छोटी थी, पर उसके शरीर का गठन और सौन्दर्य निराला था। ब्रह्मचर्य की पूर्णता से उसके तेजस्वी मुखमण्डल की शोभा अनुपम थी। अङ्ग-प्रत्यङ्गों में बिजली की भाँति उत्साह और कर्मण्यता की लहर दौड़ा करती थी। वह अपने साथियों की सेवा में भी उसी तरह दत्तचित्त रहता था, जिस तरह गुरु की। यही कारण था कि सब साथियों को वह परमप्रिय था। पर इन सब बातों के होते हुए भी उसकी बुद्धि कुछ मन्द थी। वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करने के सिवा उसे ईश्वर, प्रकृति और जीव के झमेलों में तर्क-वितर्क करना बहुत अच्छा नहीं लगता था। वह ज्ञान-पिपासु कम पर भक्त अधिक था। ज्ञान की कट्टरता में उसकी निष्ठा उतनी नहीं थी जितनी भक्ति वा सेवा में। दूसरे साथी जब आपस में बैठकर विविध वेद-मन्त्रों पर शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्क करते-करते थक जाते तो वह उनके खाने-पीने या विश्राम करने की चिन्ता में लगा रहता। पर इसका यह अर्थ भी नहीं था कि वह निरा भोंदू था और अपने पाठ को कंठस्थ करने में या पढ़ने-लिखने में किसी प्रकार का आलस्य करता था।

महात्मा पिप्पलाद के आदेश से चरणों की वन्दना कर जब सत्यकाम उनके सम्मुख बैठा, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि सत्यकाम कितना तेजस्वी और कितना विनीत हो गया है। उस समय उसके हृदय और मन की निश्छलता उसके प्रदीप्त गौर-मुखमण्डल पर एक अनूठी आभा फैला रही थी। उसकी आँखों में गुरु के प्रति असीम श्रद्धाभाव की रेखाएँ नाच रही थीं और मुख पर निष्कपट विनय और सहज मुसकराहट की छाप शोभायमान थी। वीतराग महात्मा पिप्पलाद के हृदय में भी

उसकी इस विनीत मुद्रा ने आज एक अपूर्व स्नेह का स्रोत उमड़ा दिया। थोड़ी देर तक सत्यकाम की ओर देखते हुए वह बोले—'वत्स ! तुम्हारे तेज और निष्कपट सेवा-व्यवहार से मुझे सन्देह नहीं रहा कि तुम्हारा ब्रह्मचर्य कितना अटूट और तुम्हारी निष्ठा कितनी अनुपम है। तुम मेरे ही नही अपने साथियों के भी प्यारे हो। इतने दिनों तक तुमने जिस भक्ति-भावना से अपने पवित्र शिष्य-धर्म का पालन किया है, मैं उससे प्रभावित हूँ। तुम्हारे मानसिक सन्तोष और हृदयगत शान्ति की छाया तुम्हारे मुखमण्डल पर विराज रही है। मुझे तुम्हारे कृतविद्य होने में अब कोई सन्देह नहीं है। पर मैं फिर भी जानता हूँ कि तुम्हारे मन में कोई सन्देह तो नहीं है या किसी पदार्थ की स्थिति में तुम जिज्ञासा तो नहीं रखते।'

सत्यकाम चुपचाप गुरु के चरणों पर अभी तक दृष्टि गड़ाए ताकता रहा। उसकी आँखें गुरु की स्नेह भरी बातों से भर आईं, स्वर में कण्ठ के भारीपने से रुकावट हो गई, निर्मल मानस में एक विचित्र संक्षोभ-सा होने लगा। और वह सोचने लगा कि यह सब क्या है ? थोड़ी देर तक चुप रहकर वह किसी प्रकार बोला—'पूज्य गुरुदेव ! मेरे मन और हृदय में किसी तरह का कोई भी सन्देह या जिज्ञासा नहीं है। मुझे तर्क-वितर्क या वाग्जाल में कोई विशेष रुचि नहीं है ? मैं इतना सन्तुष्ट हूँ कि कभी किसी वेद-मन्त्र या आपके किसी उपदेश पर कोई सन्देह मेरे मन में उठा ही नहीं। मेरा परम ध्येय आपकी सेवा ही रहा है, मेरे लिए तो सेवा ही परम ब्रह्म है और आपका बताया हुआ प्रणव मन्त्र ओम् ही सर्व विद्याओं की निधि है। मेरे लिए इनसे बढ़कर न तो कोई ध्येय रहा है और न होगा।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! तुम्हारी साधना सफल है। सचमुच इस नाशमान संसार में ओंकार से बढ़कर दूसरी कोई विद्या नहीं है और सेवा से बढ़कर दूसरा कोई ध्येय नहीं है। तुम इसी ओंकार के बारे में मुझसे जानकारी प्राप्त कर सकते हो।'

सत्यकाम ने विनीत स्वर में पूछा—'पूज्य गुरुदेव ! मैं उस ओंकार की महिमा पूर्णतया जानना चाहता हूँ। जो विद्वान् व्यक्ति मृत्यु के समय तक ओंकार के ध्यान में लगा रहता है, उसके निखिल महत्व को जान लेता है, उसकी सारी गोपनीयता को भेदकर उसके अन्त तक पहुँच जाता है, वह अन्त में किस लोक को प्राप्त करता है, मैं केवल यही जानना चाहता हूँ।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा—'वत्स सत्यकाम ! तुम्हारी यह जिज्ञासा तुम्हारी भक्ति भावना के अनुकूल ही है। उस ओंकार के महत्त्व को मैं बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो ! बेटा ! यह ओंकार ही निश्चय रूप से परब्रह्म हैं, इसे तुम अपर ब्रह्म भी जानो। जो अनादि और अविनाशी ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में व्याप्त रहने वाला है और इस चराचर जगत् के निर्माण और विनाश में सर्वदा समान रूप से व्याप्त है, जिसे अजर-अमर और परमपुरुष भी कहते हैं, उसका यह ओंकार ही एकमात्र प्रतीक है। उस परम तत्त्व से उत्पन्न प्राण-तत्त्व भी वही है। इसी ओंकार के द्वारा ही उस परम पुरुष के दोनों उक्त स्वरूपों का ध्यान होता है। ध्यानी पुरुष अपने ध्यान के स्वरूप के अनुसार इन दोनों रूपों में से एक को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।'

सत्यकाम ने कहा—'भगवन् ! ब्रह्म के जिन दोनों रूपों की चर्चा आप कर रहे हैं, उन्हें तनिक विस्तार से मुझे बतलाने की कृपा कीजिए।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा–'वत्स ! ब्रह्म के वह दोनों रूप अनादि और अनन्त अर्थात् सृष्टिकाल से भी आदिम और प्रलयकाल से भी पीछे तक वर्तमान रहने वाले हैं। सर्वदा एक रूप में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले उस ब्रह्म के यह दो रूप साधकों की भावना के अनुसार होते हैं; वास्तव में उनके कोई भेद नहीं है। जो बुद्धिमान् पण्डित लोग इस ओंकार की केवल एक मात्रा का ध्यान करते हैं और उसी के अनुसार ब्रह्म के केवल प्रारम्भिक रूप का चिन्तन करते हैं, वह ऋग्वेद के मन्त्रों से

प्रभावित होकर नये सिरे से इस पृथ्वी पर मनुष्य योनि में जन्म धारण करते हैं और अपने पूर्व जन्म के संचित ज्ञान की पिपासा के संस्कार से प्रेरित होकर पुनः तुम्हारी तरह तपस्या में लीन होते हैं और ब्रह्मचर्य धारण करके श्रद्धा और भक्ति के साथ ब्रह्म की अपार महिमा का सर्वत्र अनुभव करते हैं।'

सत्यकाम ने कहा—'गुरुदेव ! मैं अब ओंकार की दो मात्राओं के ध्यान करने वालों के बारे में जानना चाहता हूँ कि वह इसके फलस्वरूप किस लोक की प्राप्ति करते हैं। कृपया मुझको यह भी बतलाइये।'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! जो विद्वान् भक्ति समेत ओंकार की दो मात्राओं का ध्यान करते हैं, अर्थात् उसके आदिम और मध्य रूप के महत्त्व को समझने में जी-जान से जुट जाते हैं तो वह यजुर्वेद के मंत्र का ज्ञान प्राप्त करके चन्द्रलोक में पहुँचते हैं और वहाँ देवताओं की भाँति बहुत दिनों तक दिव्य सुखों की अनुभूति करके फिर मनुष्य लोक में पहुँचते है और यहाँ आकर अपने पूर्व जन्म के संचित ज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए फिर साधना में निरत हो जाते है। उनकी साधना फिर सफल होती है। अपने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह श्रद्धा और भक्ति समेत ब्रह्म की महिमा का सर्वत्र अनुभव करते है।'

सत्यकाम ने विनीत स्वर में पुनः पूछा—'गुरुदेव ! अब मैं ओंकार की तीन मात्राओं के ध्यान करनेवालों की साधना का फल जानना चाहता हूँ। वह लोग अपनी अविरत साधना से किस लोक को प्राप्त करते हैं, इसे भी मुझे कृपाकर इसी तरह स्पष्ट बतलाइये।'

महात्मा पिप्पलाद मुसकराते हुए बोले—'वत्स सत्यकाम ! जो पण्डित उन तीनों मात्राओं से युक्त ओंकार के पूर्ण स्वरूप का ध्यान करते हैं और उसी के द्वारा ब्रह्म के सर्वव्यापी स्वरूप का बोध करते हैं, वह परम तेजोमय सूर्य के लोक को प्राप्त करते हैं। उस सूर्यलोक में

पहुँचकर वे साधकजन अपनी वासनाओं को इस तरह छोड़ देते हैं जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुल छोड़ देता है। हे वत्स! उस सूर्यलोक के बाद वे ध्यान-परायण जन निश्चय ही अपने समस्त पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं। उनकी यह ब्रह्मलोक-प्राप्ति सामवेद के मन्त्रों के पुनीत उच्चारण के फलस्वरूप होती है। उस परम शान्तिदायी ब्रह्मलोक में पहुँचकर वे साधकजन समस्त चराचर जगत् के जीव-निकायों में व्याप्त परमपुरुष को सर्वत्र देखते हैं। उन्हें फिर जन्म-मरण और जरा-व्याधि के दुःखों का भी अनुभव नहीं होता।"

सत्यकाम की उत्सुकता और बढ़ी। उसने विनीत स्वर में फिर निवेदन किया—'भगवन्! मैं ओंकार की तीन मात्राओं की महिमा और भी सुनना चाहता हूँ। मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि जो लोग केवल इसकी मात्राओं या अक्षरों के उच्चारण तक में ही अपनी साधना का अन्तिम रूप मान लेते हैं, उन्हें कौन सा फल मिलता है।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा—'बेटा! इस ओंकार की तीन मात्राओं या अक्षरों–अकार, उकार, और मकार—का ध्यान यदि केवल उनकी सुमधुर ध्वनियों के रूप से किया जाय तो ऐसा ध्यानी जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधि के बारम्बार लौटनेवाले कुचक्र से कभी छुटकारा नहीं पाता, किन्तु यदि इन तीनों मात्राओं का बाहरी, भीतरी तथा मध्य की क्रियाओं अथवा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं के परस्पर बँधे हुए प्रतीकों के रूप में चिन्तन अथवा ध्यान किया जाय तो उनके समन्वित रूप और ओंकार का ध्यान करने वाला उसी परम पद को प्राप्त करता है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वह परम विद्वान् ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा इस लोक को प्राप्त करता है, यजुर्वेद के द्वारा चन्द्र वा अन्तरिक्ष लोक का ज्ञान प्राप्त करता है और सामवेद द्वारा उस सूर्य वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है जिसे केवल ज्ञानी लोग ही जानते हैं तथा प्राप्त करते हैं। इस त्रिमात्रा-

समन्वित ओंकार की साधना में श्रद्धा एवं भक्ति समेत सर्वदा निरत रहनेवाला साधक शान्त, अजर, अमर, निर्भर एवं निरापद परम तत्त्व से परिचित होता है और अमरत्व की प्राप्ति करता है। बेटा! इस संसार में ओंकार से बढ़कर कोई दूसरा ज्ञान नहीं है, कोई दूसरी विद्या नहीं है। तुम उसे प्राप्त करने की साधना में जुट जाओ, सचमुच तुम्हें वह शान्ति, वह सन्तोष और वह अक्षय सुख मिलेगा जो ज्ञानमार्ग के अन्य साधनों द्वारा कदापि सुलभ नहीं है।'

महात्मा पिप्पलाद के इस उपदेशामृत को पानकर सत्यकाम की ज्ञान-पिपासा सर्वदा के लिए शान्त हो गई, वह अपने आसन से उठकर गुरु के चरणों में लिपट गया। उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू उमड़ पड़े। पूर्ण ओंकार की साधना में लीन होने के लिए उसने आज जो उपदेश प्राप्त किया वह सचमुच मानव जीवन में दुर्लभ था। गुरु ने अपने प्रिय शिष्य को दोनों हाथों से उठाकर प्रेमपूर्वक गले लगा लिया और पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—'वत्स! संसार में तुम्हें कभी शोक नहीं प्राप्त होगा।'

सत्यकाम पूर्णकाम बनकर जब प्रफुल्लित नेत्रों से अपनी कुटी की ओर लौटा तो उसने देखा कि उसके प्रिय साथी उसकी अगवानी के लिए आगे बढ़े आ रहे हैं। उन सब का विधिवत् अभिवादन कर उसने ओंकार की उस अपार महिमा का भक्तिसमेत गान किया, जो गुरु की असीम कृपा से उसे इतने दिनों की साधना के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी।

[५ गार्ग्य]

पाँचवें दिन प्रातःकाल की सन्ध्या और पूजा से छुट्टी पाकर महात्मा पिप्पलाद ने सौर्य के पुत्र गार्ग्य को अपने समीप बुलाया और सामने बैठने का आदेश करते हुए कहा—'वत्स गार्ग्य ! तुम्हारा ब्रह्मचर्य पूरा हो चुका, अपने सभी साथियों के समान तुमने भी मेरे समीप रहकर आश्रम धर्म के समस्त नियमों का पालन किया है। वेद के समस्त मंत्र तुम्हें कण्ठस्थ हो चुके हैं, शास्त्रों का परिशीलन भी तुम कर चुके हो। मैं जानता हूँ कि तुम अपने स्वाध्याय के प्रति इतने आसक्त रहे हो कि तुम्हें अब किसी शास्त्रीय विषय में कुछ शंका-सन्देह न होगा, पर तुम जो कुछ भी मुझसे जानना चाहते हो उसे मैं बतलाने को तैयार हूँ।'

गार्ग्य चुप था। पिछली रात में उसे अच्छी तरह नींद नहीं आई थी। इसके पहले गुरु के समीप रहते हुए उसे कभी ऐसा नहीं हुआ था। नींद पूरी न होने से अभी तक उसकी आँखों में आलस्य की रेखा नाच रही थी, थोड़ी-थोड़ी देर पर जँभाई आ जाती थी। ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का पालन करनेवाले गार्ग्य को नींद अच्छी तरह क्यों नहीं आई, इसे यह खुद नहीं जानता था। आज उसके मन में गुरुदेव से यही जिज्ञासा थी कि मनुष्य रात में सोने की इच्छा करने पर भी क्यों नहीं सो पाता, पर यहाँ आने पर वह सोचने लगा कि ऐसे ऊटपटांग प्रश्न से गुरु जी क्या सोचेंगे। वह थोड़ी देर इसी बारे में सोचता रहा, उसकी आँखों में कड़वाहट थी और रह-रहकर इसी बीच दो-तीन बार जँभाई ले चुका था।

महात्मा पिप्पलाद लोक से सर्वथा विरत होने पर भी सब कुछ जानते थे। गार्ग्य की इस शारीरिक विकलता और मानसिक अवसाद का उन्हें पता लग गया। वह तुरन्त कुछ विस्मित-से होकर बोल पड़े—'वत्स गार्ग्य ! ऐसी क्या बात हो गई जो तुम्हारे शरीर में

आलस्य की निशानी दिखाई पड़ रही है। क्या तुम रात में अच्छी नींद नहीं ले सके ? यह तो तुम्हारी मानसिक चंचलता की निशानी है, मुझे अब सन्देह होने लगा है कि तुमने ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का विधिवत् पालन नहीं किया है।'

गार्ग्य पहले तो कुछ सहम गया, फिर दृढ़ता के स्वर में बोला—'भगवन् ! आप ठीक कह रहे हैं। पिछली रात में मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आई। एक बार प्रयत्न करने पर आँखें मुँदी भी तो विचित्र-विचित्र स्वप्न देखता रहा। मैंने भरसक ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का तन-मन से पूर्णतया पालन किया है, पर उनमे च्युति होना भी स्वाभाविक है। कल शाम से ही मेरा मन कुछ चंचल था। मैं नहीं जानता कि वह एकाएक क्यों इतना चंचल हो गया।'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! नींद का ठीक से न आना और स्वप्न देखना, यह दोनों बातें तुम्हारे मन की चंचलता बतला रही हैं। अवश्य तुमने अपनी साधना में कोई त्रुटि की है। कल शाम को, जब तुम्हारा मन चचल हुआ तभो मेरे पास आये होते या अपने साथियो से सलाह लिये होते तो इस तरह का कोई उपद्रव न होता। पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि कल शाम को तुम्हारे मन में क्या विकार उत्पन्न हुए, साफ-साफ बतलाओ, शायद मैं उसे वश में करने का कोई उपाय बता सकूं ?'

गार्ग्य ने विनीत स्वर में कहा—'गुरुदेव ! कल दोपहर में सत्यकाम जब आपके पास से दीक्षित होकर वापस लौटा तो मैं एकाएक यह सोचने लगा कि कल-परसों तक हम सभी साथियों की शिक्षा पूर्ण हो जायगी और हम सब को गृहस्थाश्रम की ओर लौटना पड़ेगा। गृहस्थाश्रम का चिन्तन करते ही मैं अनेक दुनियाबी बातों में उलझ गया। यहाँ तक उलझा रहा कि कल सायंकाल की सन्ध्या एवं हवनादि-क्रिया में भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो सका, और फिर रात में भी उन्हीं सब उलझनों को सुलझाता रहा। अपने विवाह, गृहस्थ-धर्म के

'पालन, भावी पुत्र-पौत्रादिकों की शिक्षा-दीक्षा तक मेरे मन की लहरें दौड़ लगाती रही। बहुत कोशिश करने पर भी मैं मन को अपने में समेट नहीं सका। रात के स्वप्न में भी यही सब दृश्य देखता रहा। गृहस्थी के अनेक कल्पित सुखों का भी मैंने पिछली रात में मिथ्या अनुभव किया है, यही कारण है कि मेरी आँखों में रह-रहकर कड़वा पानी आ जाता है, और मुख में जँभाई। भगवन्! मैं इस आकस्मिक उपद्रव से बहुत डर गया हूँ। क्या इससे बचने का कुछ उपाय अभी बाकी है? मैंने बड़ा अपराध किया है जो कल शाम को ही आपसे इस सम्बन्ध में चर्चा नहीं की और न अपने प्रिय साथियों को ही कुछ बतलाया!'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स गार्ग्य! तुम्हारी यह मानसिक चंचलता अब गृहस्थाश्रम में जाने से ही दूर हो सकेगी। अब इसे तुम मेरे आश्रमधर्म में रहकर दूर नहीं कर सकते; पर इससे तुम्हे डरना भी नहीं चाहिए। निश्चय ही कल-परसों तक तुम सब को अपनी-अपनी जन्मभूमि को वापस लौटना है और वहाँ पहुंचकर गृहस्थाश्रम धर्म का पूर्णरीति से पालन करना है। पर इस तरह मन के उतावलेपन और अनियन्त्रित होने से तुम्हें गृहस्थाश्रम में भी कठिनाई उठानी पड़ेगी। इसीलिए मैं तुमसे यह कहता आया हूँ कि इन्द्रियों समेत मन को सदा बुद्धि और आत्मा के नियंत्रण में रखने की कोशिश करना। यह मन बहुत ही चंचल है और स्वच्छन्द रहने की ताक में लगा रहता है, वायु की भाँति इसे बाँधकर रखना बहुत कठिन होता है।'

गार्ग्य ने कहा—'भगवन्! पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि सोते समय मनुष्य जो विविध प्रकार के स्वप्न देखता है वह है क्या? क्या शरीर की अन्यान्य इन्द्रियों के साथ मन को उस समय नींद नहीं आती?'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स! सोते समय मनुष्य की कुछ इन्द्रियाँ देखने में तो सो अवश्य जाती हैं, पर कुछ ऐसी इन्द्रियाँ हैं जो जागती

रहती है और उस समय स्वप्न में होने वाले सुख-दुःख की अनुभूतियों में सम्मिलित रहती हैं।'

गार्ग्य विनम्र स्वर में हाथ जोड़कर बोला—'पूज्य गुरुदेव ! मैं यह सब बातें विस्तार के साथ जानने को उत्सुक हो रहा हूँ कि इस जीव के शरीर में कौन इन्द्रियाँ सोने पर जागती रहती हैं और कौन इन्द्रियाँ सोती हैं और कौन-कौन स्वप्न देखती हैं ? इन सब अनुभूतियों से होने वाले सुख-दुख को कौन भोगता है ? और वह सब किसमें जाकर विलीन होती है ? कृपया इन सब बातों को मुझे सविस्तार बतलाइये।'

महात्मा पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! सोते समय इस जीव के शरीर की जो दशा होती है मै उसे बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। जिस तरह दिन में सूर्य की एक सहस्त्र किरणें भूमण्डल को प्रकाशित कर जीवनदान करती हैं और अस्त हो जाने पर वह सब इसके तेजोमण्डल में प्रवेश करके एक रूप हो जाती हैं और फिर दूसरे दिन उदय होने के समय उसी तेजोमण्डल में से निकलकर फिर अपना प्रकाश बाहर बिखेरने लगती है, उसी प्रकार शरीर की सब इन्द्रियाँ और उसके भोग्य-विषय जागते समय अपने-अपने कामों में लगे रहते है और सोते समय अपने से श्रेष्ठ सत्तावाले मन में लीन होकर एक रूप हो जाते हैं, उस समय जीव प्रत्यक्ष जगत में न कुछ देखता है, न कुछ स्वाद लेता है, न कुछ सूँघता है, न कुछ छूता है, न बोलता है और न कोई क्रिया करता है। जीव की ऐसी दशा को सोने की अवस्था कहते हैं। हे वत्स ! शांत और निर्विकार मन जीव की इस दशा में सोता है और चचल तथा विकारी मन उस समय भी सभी इन्द्रियों के साथ दौड़ता रहता है और किसी कारणवश दिन में जिस विषय के चिन्तन वा उपभोग में असफल रहता है उन सब का चिन्तन वा उपभोग करने की कोशिश करता है। अनेक वर्ष पूर्व में घटित होने वाले कर्मों का जो सूक्ष्म संस्कार उस पर जमा रहता है उन सब तक भी वह स्वप्न की अवस्था में दौड़ लगाता है। बाहरी इन्द्रियों के सोते रहने पर भी वह सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ सब कुछ करता है।

यही कारण है कि उस सोने की अवस्था में भी जीव सब कुछ दृश्य देखता है, विभिन्न प्रकार स्वाद लेता है, सूँघता है, छूता है, बोलता है और क्रियाएँ करता है।'

गार्ग्य ने कहा—'भगवन् ! इस विषय को ता मैं समझ गया, अब यह जानना चाहता हूँ कि उस सोने की अवस्था में भी जीव के शरीर में कौन वस्तु जागती रहती है ? और उस समय उसके व्यापार क्या-क्या होते हैं ?'

पिप्पलाद बोले—'वत्स ! उस समय इस शरीर रूपी नगर में केवल इस जीवन रूपी यज्ञ की पाँचों प्राणाग्नियाँ जागती रहती है। उन पाँचों प्राणाग्नियों के नाम यह हैं, प्राण, अपान, समान उदान और व्यान। बेटा ! मैंने जीवन की उपमा यज्ञ से की है, उसका पूरा विवरण इस तरह है। जिस तरह यज्ञ का करनेवाला और उसका श्रेय प्राप्त करनेवाला कोई-न-कोई यजमान होता है उसी तरह इस सम्पूर्ण जीवन यज्ञ का करनेवाला और उसका फल-भोग करनेवाला भी मन होता है। जिस तरह यज्ञ में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि की विशेष महत्ता होती है उसी तरह इस जीवन यज्ञ में पाँचों प्राणों की महत्ता है। इस शरीर में अवस्थित प्राण आहवनीय यज्ञ की तरह सोते-जागते सर्वदा जागता रहता है। अपान इस जीवन की गार्हपत्य अग्नि है और व्यान दक्षिणाग्नि है। समान वायु श्वास-प्रश्वास की गति को समान रूप से भीतर खींचने और बाहर ले जानेवाली है। उदान वायु इस जीवन यज्ञ का फल है, क्योंकि वही मन को ध्यान मग्न करके ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। इस स्वप्न की अवस्था में ज्योति स्वरूप यजमान मन इस जीवन यज्ञ के फलस्वरूप उदान की प्रेरणा से ब्रह्म की अपार महिमा का अनुभव करता है। जिसे एक बार कभी वह देख चुका है उसे नये सिरे से नये रूप में देखा हुआ-सा बोध करता है। जो कुछ पहले कभी वह सुन चुका है उसे फिर से सुना हुआ-सा जानता है। देश या विदेश में देखी या अनुभव की हुई बातों या वस्तुओं की वह उस स्थिति में

पुनः देखता या अनुभव-सा करता है। यही नहीं जन्मान्तर में देखे या सुने हुए सत् या असत् विषयों को फिर से देखता, सुनता या अनुभव-सा करता हुआ वह मानता है।'

गार्ग्य ने पूछा—'भगवन् ! क्या ऐसा कारण है कि ये स्वप्न पहले मुझे नहीं दिखाई पड़ते थे और कल ही दिखाई पड़े।'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! मन की चंचलता के बारे में मैं पहले ही तुम्हें बतला चुका हूँ कि यह बुद्धि वा आत्मा से नियंत्रित होता है। जब यह ज्ञानरूपी तेज द्वारा सपूर्ण रूप से मग्नता की अवस्था को प्राप्त करता है तो फिर उस स्थिति में किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता ! उस समय उसकी समस्त चिन्ता और वासना रूपी किरणें उस ज्ञान के महातेज में विलीन हो जाती हैं। उस दशा में इस शरीर में अगाध और अनन्त सुख की अनुभूति होती है।'

गार्ग्य बोला—'गुरुदेव ! यह चंचल मन ज्ञान के महातेज से किस में मग्न होता है, इसे मैं जानना चाहता हूँ।'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स ! जिस प्रकार सूर्यास्त के बाद समस्त पक्षी बसेरा लेने के लिए किसी एक पेड़ का आश्रय लेकर उसी में निश्चिन्त होकर निद्रामग्न हो जाते है, उसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था में मन की सब वासनाएँ और कामनाएँ और उनमें प्रतिबिम्बित होने वाला समस्त दृश्य जगत् आत्मा में विलीन हो जाता है। सुषुप्ति की उस अवस्था में शरीरस्थ पाँचों महाभूत भी उसी आत्मा में विलीन हो जाते हैं। इसे मैं विस्तार पूर्वक बतला रहा हूँ, तनिक ध्यान से सुनो। उस सुषुप्ति दशा में पृथ्वी और उसका अव्यक्त सूक्ष्म स्वरूप, जल और उसकी अदृश्य अभिव्यक्ति, वायु और उनका सूक्ष्म भाव, इसी तरह अग्नि अर्थात् तेज तथा उसका अन्तर आभास एवं आकाश तथा उसकी सूक्ष्म मात्रा स्वरूप भीतरी आकाश का भाव—सब उस अविकारी आत्मा में विलीन हो जाते हैं। इसी तरह आँखें और उसके

देखने के विषय दृश्य जगत्, कान और उसके सुनने योग्य विषय शब्द-समूह, नाक और उसके द्वारा सूँघे जानेवाले पदार्थ, जीभ और उसके द्वारा स्वाद लेने योग्य वस्तुएँ, त्वक् और उसके द्वारा स्पर्श करने योग्य पदार्थ, वाणी और उसके द्वारा बोले जानेवाले विषय, पैर और उसके द्वारा चलने योग्य प्रदेश, मन और उसके द्वारा मनन किए जानेवाले विषय, बुद्धि और उसके द्वारा जानने योग्य पदार्थ, अहंकार और अहंकार करने योग्य विषय, चित्त और उसके द्वारा चिन्तत करने योग्य विषय, प्रकाश और प्रकाशित होने योग्य विषय, प्राण और उसके द्वारा धारण करने योग्य समस्त पदार्थ—यह सब आत्मा में लीन होकर एकाकार हो जाते है। और आनन्द की अनुभूति द्वारा पूर्ण मग्नता की अवस्था को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार इस शरीर में ज्ञान स्वरूप पुरुष प्रवेश करता है। शरीरधारी जीव जो कुछ देखता, सुनता, सूँघता, खाता, पीता, जानता या करता है उन सब का देखनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, खानेवाला, पीनेवाला, जाननेवाला या करनेवाला वही ज्ञान स्वरूप पुरुष है। वह सुषुप्ति की अवस्था में उसी प्रकार उस अविनाशी आत्मा में लीन वा मग्न हो जाता है, जिस प्रकार जल के सूख जाने पर जल में दिखाई पड़नेवाला प्रतिबिम्ब सूर्य में विलीन हो जाता है। वत्स गार्ग्य! सब प्रकार की इच्छाओं और चिताओं से मुक्त होकर जो उस अज्ञान से मुक्त, शरीर के सब संस्कारों से शून्य, निर्गुण, शुभ्र, प्रकाशमय एवं अविनाशी परब्रह्म को जान जाता है, वह उसी श्रेष्ठ अविनाशी को प्राप्त होता है और अविद्या से रहित होकर सर्वज्ञ बन जाता है। हे गार्ग्य! जिस परम तत्व में पाँचों प्राण, पाँचों महाभूत, समस्त इन्द्रियों के साथ देवता लीन हो जाते है, उस विज्ञान रूप परब्रह्म को जानने का यत्न करो। मुझे विश्वास है कि तुम गृहस्थ धर्म में रहकर भी उसे प्राप्त कर सकोगे। उसे जानने का यत्न करते ही तुम्हारे मन की चंचलता दूर हो जायगी। निश्चय ही दूर हो जायगी।'

गार्ग्य का मलिन मुख महात्मा पिप्पलाद की इस सान्त्वना भरी अमृत वाणी से चमक उठा। उसका समस्त ज्वर बीत गया और वह इतनी ही देर में पूर्ण ब्रह्मवर्चम् की निर्मल-कान्ति-सरिता में नहाने के समान आह्लादित एवं प्रकाशमान हो उठा। आँखों की कड़वाहट और मुख की जँभाई उस नवचेतना के विद्युत्प्रवाह मे वह गई, वह पुनः आँखें खोलने के समान नवीन स्वर्णिम प्रभात-सा देखने लगा। अवचेतन की तन्द्रा बीत जाने के कारण उसके रग-रग में उत्साह और उल्लास की होड़-सी मच गई। वह गद्गद् कण्ठ से गुरु के चरणों पर गिरकर बोला—'पूज्य गुरुदेव! आपकी कृपा से मेरी बाधा बीत गई और मैं पुनः अपने में नवजीवन का अनुभव-सा कर रहा हूँ। निश्चय ही यह सब आपकी अमोघ कृपा का फल है। भगवन्! सचमुच आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ।'

महात्मा पिप्पलाद ने आह्लादित गार्ग्य को उठाकर छाती से लगाते हुए कहा—'वत्स! तुम्हारी यह प्रसन्नता जीवन भर बनी रहे।'

गुरु पिप्पलाद से अमोघ आशीर्वचन प्राप्तकर वापस आने पर साथियों ने गार्ग्य का अभिनन्दन किया। उस समय उसकी प्रसन्नता देखने ही योग्य थी। अपने सब साथियों को उसने अपनी पिछली रात की व्याकुलता और गुरु से प्राप्त की गई समस्त शिक्षा का सारा वृत्तान्त संक्षेप में कह सुनाया। उसके निश्छल साथियों ने उसकी इस अपूर्व सफलता पर उसे बधाई दी।

[६ सुकेशा]

छठें दिन प्रातःकाल भरद्वाज के पुत्र सुकेशा की बारी थी। यों तो सब साथी उत्सुक मन-से शुभ दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब उन्हें भली भांति कृतविद्य होकर अपनी-अपनी जन्मभूमि में वापस लौटने का अवसर मिलता; पर सुकेशा उन सब में अगुआ था। उसे अपनी जन्म-भूमि बहुत प्यारी थी। इन्द्रियों समेत मन पर वह पूरा अधिकार प्राप्त कर चुका था, पर वह नहीं समझ पाता था कि जन्मभूमि की ममता उसे इतनी क्यों है? उसे अपने पिता भरद्वाज के पुनीत आश्रमवासी सहवासियों का ही नहीं, उसमें निवास करनेवाले पशु, वृक्ष, लता एवं पक्षियों तक का ध्यान आता तो एक क्षण के लिए कुछ आकुल हो जाता। इसलिए जब उसकी बारी आई तो वह निहाल हो उठा। गुरु पिप्पलाद के आदेश से विनीत मुद्रा में जब सुकेशा उनके पास पहुँचा तो उसके मन की प्रसन्नता अंगों-अंगों से फूटी पड़ रही थी। गुरु ने सामने बैठने का इशारा करते हुए पूछा—'वत्स सुकेशा! तुम्हारी मानसिक प्रसन्नता तुम्हारी निश्छलता और सन्तोष की साक्षी दे रही है। मेरे समीप रहकर तुमने अपने पूज्य पिता भरद्वाज की तरह ही ब्रह्मचर्य के सब नियमों का पालन किया है। वेदों और शास्त्रों पर तो तुम्हारा पहले ही अधिकार था। अब तुम मुझसे अपने सन्देहों के बारे में जो कुछ पूछना चाहो पूछ सकते हो।'

सुकेशा ने विनम्र स्वर में कहा—'भगवन्! मेरे मन में एक प्रश्न बहुत दिनों से बैठा हुआ है। बस, उसी का उत्तर मैं जानना चाहता हूँ।'

पिप्पलाद ने कहा—'वत्स! उसे तुम मुझसे पूछ सकते हो।'

सुकेशा बोला—'गुरुदेव! बहुत दिनों की बात नहीं है, प्रायः दो वर्ष हुए, मेरे पूज्य पिता जी के आश्रम में कोशल देश का राजकुमार हिरण्यवर्मा आया हुआ था। उसके साथ मैं आश्रम दिखाने के लिये पिता द्वारा नियुक्त किया गया। इसी प्रसंग में घूमते हुए हम

दोनों गंगा के पुनीत तट पर पहुँचे। यहाँ पर स्नान-ध्यानादि से निवृत्त होकर राजकुमार ने मुझसे पूछा–'सुकेशा ! तुम ब्रम्हज्ञानी ऋषिवर भरद्वाज के योग्य पुत्र हो। मेरे मन में एक शंका बहुत दिनों से जमी हुई है। मैं उसका निराकरण तुमसे कराना चाहता हूँ।'

मैंने कहा—'राजकुमार ! तुम अपनी शंका का समाधान मुझसे ले सकते हो, मैं भरसक तुम्हे उसका उत्तर दूँगा।'

राजकुमार ने पूछा—'सुकेशा ! तुम उस परम पुरुष के बारे में क्या जानते हो जो सोलह कलाओं से युक्त कहा जाता है ?' गुरुदेव ! मुझे उस सोलह कलाओं से युक्त परम पुरुष के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं थी, थोड़ी देर तक सोचने-विचारने के बाद मैंने राजकुमार से साफ-साफ बतला दिया कि—'भाई ! मझे उस परम पुरुष के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं है।' किन्तु मेरी उस बात पर कोशल राजकुमार को सहसा विश्वास नहीं हुआ। उसने यही समझा कि मैं उस परम पुरुष को भली भाँति जानता हूँ पर किसी कारण वश उसे बतलाना नहीं चाहता। उसने फिर आग्रह करते हुए कहा—'सुकेशा ! मैं बहुत दिनों से इस सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ। मेरे ऊपर तुम्हारा यह महान् अनुग्रह होगा।'

'भगवन् ! राजकुमार की इस विनय और आग्रह से भरी बात, को सुनकर मैं लज्जा से गड़ने लगा। पर मेरे पास दूसरा चारा ही क्या था। मैंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए फिर कहा—राजकुमार ! यदि मुझे उस सोलह कला वाले परम पुरुष के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी होती तो तुम्हें क्यों न बतलाता ? तुम से मैं यह साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि तुम्हारे लिए मेरे मन में कोई दुराव का भाव नहीं है। मैं तुम्हें अपने अभिन्न मित्र के रूप में देखता हूँ। पर मेरी इस बात का भी राजकुमार पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वह उदास हो गया और थोड़ी देर बाद गंगा से वापस लौटते हुए बीच रास्ते में उसने पुनः विनम्र भाव से यही बातें पूछो। भगवन्, मैं तो बहुत ही

लज्जित और दुःखी हुआ और जब किसी दूसरे उपाय से उसके मन में विश्वास जमते नहीं देखा तो शपथ का सहारा लिया, यद्यपि शपथ के बाद मुझे बहुत ही मानसिक अनुताप हुआ। मैंने कहा—राजकुमार! जो व्यक्ति तुम्हारे जैसे अभिन्न सुहृद् स भी कपटवश मिथ्या बोलता है वह जड़ समेत सूख जाता है। उसे न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में। उस सोलह कलाओं से युक्त परम पुरुष के सम्बन्ध में यदि मै तनिक भी जानता होता तो तुमसे किसी प्रकार का दुराव न करता। मेरी इस बात से राजकुमार को सन्तोष हुआ और वह मेरे पूज्य पिता जी के पास वापस आकर उनकी आज्ञा ले चुपचाप रथ पर चढ़कर अपनी राजधानी को वापस चला गया। पूज्य गुरुदेव! इतने दिन बीत गए, पर मैं उसी परमपुरुष को जानने के लिए अब भी उत्कण्ठित हूँ।'

महात्मा पिप्पलाद ने सुकेशा की इस आकुल जिज्ञासा को सुनकर मुस्कराते हुए कहा—'वत्स! क्या राजकुमार ने तुम्हारे पिता जी से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा नहीं की।'

सुकेशा बोला—'गुरुदेव! मेरे पिता जी उस समय अपने शिष्यों को पढ़ाने में लगे हुए थे। राजकुमार को अपने घर वापस लौटने की जल्दी थी!'

पिप्पलाद ने पूछा—'सुकेशा! तो फिर तुमने ही क्यों नही अपने पूज्य पिताजी से इस सम्बन्ध में अब तक जानकारी प्राप्त की। तुम्हारे पिताजी इस विषय के पूरे पण्डित हैं।'

सुकेशा ने लज्जा प्रकट करते हुए शिर को नीचे कर कहा—'गुरुदेव! पिता जी से इस सम्बन्ध में पूछते हुए मुझे लज्जा लग रही थी; क्योंकि मैं उस समय समझता था कि इस सम्बन्ध में मै थोड़े ही दिनों में कहीं अन्यत्र से जानकारी प्राप्त कर लूँगा। पर आज इतने दिनों के बीत जाने के बाद भी वह शंकाएँ ज्यों की त्यों है। भगवन्! अब मैं आप से विनयपूर्वक यह निवेदन करता हूँ कि वह सोलह कलाओं

से युक्त परम पुरुष कौन है और कहाँ पर वह निवास करता है !'

महात्मा पिप्पलाद ने जब सुकेशा की इस तरह विनयपूर्ण प्रार्थना सुनी तो उन्होंने थोडी देर चुप रहकर यह उत्तर दिया—'वत्स सुकेशा ! जिह परम पुरुष मे सोलहो कलाएँ उत्पन्न होती है या जो उन सोलह कलाओ से सर्वथा युक्त कहा जाता है, वह कही अन्यत्र नहीं, इसी शरीर के भीतर हृदय रूपी आकाश में विराजमान पुरुष है।'

सुकेशा को सन्देह हुआ। वह बोला—'भगवन् ! इस शरीर में तो प्राण अवस्थित है, प्राणों के निकल जाने पर इसमें कुछ नहीं रहता, लोग इसे जला देते है या गाड़ देते हैं या जल में डुबा देते हैं। तो क्या प्राण ही वह मूल पुरुष है !'

पिप्पलाद बीच में ही बोल पड़े—'नहीं वत्स ! वह मूल पुरुष प्राणों का भी रचनेवाला है। जब वह यह सोच लेता है कि किसके निकल जाने पर मै स्वयं बाहर निकला हुआ-सा प्रसिद्ध हो जाऊँगा और किसके स्थिर रहने पर मैं स्वयं अवस्थित कहा जाऊँगा तब वह इन प्राणो की रचना करता है, जो शरीर के पाँच स्थानो मे विभक्त होकर पाँच कर्मो के व्यापार में रात दिन लगे रहते है। उन्ही प्राणों पर वह अपने को मूल रूप से प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार प्राण के रूप में ही वह सब प्राणधारियों के भीतर स्थित रहने लगता है और प्राण के बाहर निकल जाने पर जैसे वह स्वयं उसके साथ बाहर निकल जाता है, ऐसा रूपक उसने रच लिया है। उन्ही प्राणों के द्वारा वह प्राणियो के भीतर अपने प्रति श्रद्धा की उत्पत्ति करता है। जिसके द्वारा प्राणी अपने मूलगत श्रेष्ठ रूप को कुछ कुछ समझने में समर्थ होता है। श्रद्धा के अनन्तर वह संसार के कर्म जाल के आधार स्वरूप वायु, तेज (अग्नि), जल, पृथ्वी, इन्द्रियसमूह, मन और अन्न को उत्पन्न करता है। अन्न से ही बल और वीर्य को उत्पन्न करता है, फिर तप को और तप के बाद समस्त लौकिक और पारलौकिक कर्मो के मन्त्र को। उसके बाद उन समस्त कर्मो के मूल भोग के लिए समस्त लोकों को और

फिर उन लोकों में उत्पन्न होने वाले सब प्राणधारियों के अलग-अलग नामों को वह उत्पन्न करता है। यही सब उस परम पुरुष या मूलपुरुष की सोलह कलाएं हैं जो प्राणियों के अज्ञान के कारण अलग अलग-सी जान पड़ती हैं।'

सुकेशा का भ्रम कुछ दूर हो चला था। परन्तु उसने कुछ देर तक सोचने-विचारने के बाद फिर पूछा—'गुरुदेव! किन्तु उस मूल पुरुष में यह कलाएँ किस प्रकार अवस्थित रहती है और किस प्रकार अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, इस विषय को तनिक मुझे विस्तारपूर्वक बतलाने की कृपा कीजिए।'

महात्मा पिप्पलाद बोले—'वत्स सुकेशा! जिस प्रकार समुद्र से बादलों द्वारा लाकर बरसाये गए जल को लेकर बहने वाली नदियाँ फिर समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं, समुद्र की अपार जलराशि में अपना स्वतत्र अस्तित्व भी खो बैठती हैं और फिर समुद्र के नाम से ही प्रसिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सब कुछ देखने वाले उस परम पुरुष की ओर जाने वाली यह सोलह कलाएँ उसी को प्राप्त कर विलीन हो जाती है, एक रूप होकर उसी में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देती है। सब प्रकार मिलकर विलीन हो जाती है नदियों को तरह इनको सत्ता का भी कुछ पता नहीं रह जाता। उस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि यह सोलह कलाएँ उस परम पुरुष से भिन्न हो सकती है या है। बल्कि वह सब भी उसी परम पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो जाती हैं। उस समय सब कुछ देखने और जानने वाला यह परम पुरुष इन समस्त कलाओं से रहित, एक रूप और अमर एवं निर्विकार स्थिति को प्राप्त हो जाता है। हे वत्स। जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे जुड़े रहते है और उसी प्रेरणा पर सब में गति होती है, उसी प्रकार यह समस्त कलाएँ, यही नहीं सारा विश्वप्रपंच, उसी पुरुष रूप मूल केन्द्र से जुड़ा रहता है। जो विद्वान् पुरुष इस रूप में उस परमपुरुष को

पहचानता है वह कभी मृत्यु की पीड़ा से पीड़ित नहीं होता, अमर बन जाता है। मुकेशा ! मैं परम पुरुष वा परब्रम्ह को इसी रूप में देखता हूँ, मेरी समझ में तो उससे बढ कर दूसरा कोई इस चराचर जगत् में नहीं है।'

महात्मा पिप्पलाद के इस अन्तिम उपदेश को सुनकर सुकेशा का सारा भ्रम दूर हो गया। उसने सादर उनके चरणों पर गिर कर पवित्र धूल अपने मस्तक में लगाई। पिप्पलाद ने आशीर्वाद दिया—'वत्स ! अपने योग्य पिता की भाँति तुम भी शोक-सन्ताप से रहित जीवन बिताओ। अब जगत में तुम्हे भी कोई वस्तु अज्ञात नही रहेगी।'

सुकेशा इस अमोघ आशीर्वचन को हृदय मे गुनता हुआ समुत्सुक मन से अपने साथियों के समीप आया, जहाँ उसकी आकुल प्रतीक्षा हो रही थी। उसने गुरु से प्राप्त की गई इस अमर विद्या की चर्चा अपने साथियो से भी की। उस समय उन सब ऋषिकुमारों को असीम प्रसन्नता हो रही थी। उनके प्रसन्न मुख मण्डल पर अगाध सन्तोष और शान्ति विराज रही थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल की सन्ध्या पूजा से निवृत्ति प्राप्त कर सब ऋषिकुमार महात्मा पिप्लाद के समीप आये और भक्तिसमेत उनके चरणो में गिर कर बोले—'गुरुदेव ! आप निश्चय ही इस संसार में विद्या के सूर्य हैं। आप की सहज कृपा-रश्मि से हमारी अज्ञानपूर्ण आँखों में सदा छाई रहने वाली अविद्या की तमोराशि समूल नष्ट हो गई। परब्रम्ह के निश्चित स्वरूप का वह सुखद आलोक हमें मिल गया, जिसे प्राप्त करना इस ससार में केवल कठिन ही नही, वरन् महान् दुष्कर था। भगवान् ! आपके अगाध ज्ञान-समुद्र से निकलने वाले उपदेशामृत का पानकर हम सचमुच मृत्यु के भय से मुक्त हो गए। आप हमारे पिता स्वरूप हैं, आपके उपकारों का ऋण वहन करने में हम सशक्त नहीं है। पूज्य गुरुदेव ! आप जैसे परम ऋषियों के प्रति हमारा बरम्बार का नमस्कार है।'

चराचर संसार की स्थिति आप ही जैसे वीतराग महात्माओं के कारण है।'

शिष्यों की विनय पूर्ण बातों को सुनकर महात्मा पिप्पलाद ने मुस्कराते हुए कहा—'ऋषिपुत्रो ! मैं हृदय से कामना करता हूँ कि तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों और तुम्हारी इच्छाएँ पूर्ण हों।'

इन्द्र और विरोचन

पुराणों की विचित्र कथाओं से यह पता लगता है कि भगवान् ब्रह्मा के पौत्र और महर्षि मरीचि के पुत्र कश्यप की अनेक स्त्रियाँ थीं। उनमें दो के नाम थे अदिति और दिति। अदिति के पुत्रों के नाम आदित्य अर्थात् देवता और दिति के पुत्रों के नाम दैत्य अर्थात् असुर थे।

अदिति और दिति में कभी पटती नहीं थी। उनके इस सौतेले भाव की छाप उनकी सन्तानों पर भी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि देवता और दैत्य गण बराबर एक दूसरे को हराने, मारने, पीटने और अपदस्थ करने की ताक में लगे रहते थे। उनका झगड़ा इतना बढ़ा-चढ़ा था, मानों इस संसार में उनका जन्म ही इसीलिए हुआ था। ब्रह्मा और कश्यप के बीच-बिचाव से भी इन दोनों सौतेले भाइयों में कभी शान्ति न हुई। समझाने-बुझाने से वह और भी उभड़ पड़ते और एक दूसरे को समूल नष्ट कर देने की गहरी योजना बनाते। इस पारस्परिक कलह का परिणाम बड़ा भीषण होता और सारे देश में खून की नदी बह जाती।

देवताओं के समूह में बड़ा, बुद्धिमान और बलवान् होने के नाते इन्द्र स्वामी माने गए और उनकी यह परम्परा बराबर बनी रही, उसका कारण यह था कि यह लोग आपस में कभी लड़ते-भिड़ते नहीं थे। इनकी सामूहिक लड़ाई दैत्यों ही से होती, ये आपस में बड़े स्नेह-भाव से रहते; पर इसके विपरीत दैत्यों में कभी-कभी आपस में ही खुट-पुट हो जाती। एक दूसरे को पराजित और अपदस्थ कर अपने को स्वामी बनाने का प्रयत्न करता। उसका परिणाम यह हुआ कि उनके समूह में कभी यह तय नहीं पाया गया कि कौन स्वामी बने। जो सब

में बलवान् होता वही स्वामी होता । यही कारण है कि आज तक हमें देवताओं के एक स्वामी इन्द्र का विस्तृत इतिहास तो मालूम है पर दैत्यों या असुरों के स्वामियों के नाम भी हम भूल गए हैं।

जिस जाति या समाज में पद प्राप्त करने के लिए अपने ही भीतर लड़ाई हुआ करती है वह कभी भी अपने शत्रुओं को पराजित नहीं कर सकता और धीरे-धीरे स्वयं विनष्ट हो जाता है ! बेचारे दैत्यों का यही हाल हुआ । वह भूतल से पराजित कर पाताल जाने को विवश किए गए, कई बार देश से निकाल कर समुद्र पार भगाए गए और अधिक संख्या में मारकर मृत्यु के घर भेज दिए गए । इधर देवताओं की पारस्परिक प्रीति और सुदृढ़ संगठन का परिणाम यह हुआ कि वह देश-विजयी ही नहीं स्वर्ग तक के स्वामी बने, और मृत्यु को जीतकर अमर कहलाने लगे। सचमुच उनकी मृत्यु कभी नहीं होगी, वह अपने अक्षर यश से सदा जीवित रहेंगे ।

एक समय की यह कथा है । सुप्रसिद्ध दैत्यराज प्रह्लाद का पुत्र विरोचन दैत्यों का स्वामी था । इसी विरोचन का पुत्र बलि था, जिससे देवताओं के उपाध्यक्ष विष्णु ने वामन रूप धारणकर छल से सारी पृथ्वी दान रूप में माँग ली थी । विरोचन अपनी जाति और देश का बड़ा उपकारी था । वह यह समझता था कि देवताओं से लड़ाई-झगड़ा करने में कोई लाभ नहीं है, विनम्र स्वभाव और अनुपम शक्तिशाली होने के कारण वह देवताओं का भी प्रेम-पात्र बन गया था । उसके राजत्व काल में देवताओं और दैत्यों में कोई भीषण संघर्ष नहीं हुआ । पीछे चलकर सुरों के स्वामी विष्णु यदि कपट वामन रूप धारण कर बलि को अपदस्थ न करते तो सभव था कि देवताओं और दैत्यों का वह पवित्र पारस्परिक स्नेह भी बहुत दिनों तक स्थिर रहता, जिसको पुण्यात्मा प्रह्लाद ने कायम किया था और नीतिज्ञ तथा बलवान् विरोचन ने दृढ़ किया था ।

विरोचन और इन्द्र में थोड़े दिनों परस्पर बड़ी प्रीति थी । एक दूसरे

के लिए प्राण देते थे। यद्यपि दोनों भाइयों ने अपने-अपने राज्य की सीमा बाँट ली थी, पर सब की देख-रेख मुख्यतया विरोचन ही करता था। देवता लोग विरोचन की सरलता, निश्छलता और राज्य परि-चालन की अपूर्व क्षमता से यह भूल-से गए कि दैत्यों के साथ उनका कोई पुरातन बैर है। सारे देश में सुख, सन्तोष और समृद्धि की बाढ़-सी आ गई। प्रजा और राजा दोनों वर्गों की कलुषित भावनाएं धुलने लगीं।

एक बार विरोचन और इन्द्र बैठे हुए बातें कर रहे थे। बातचीत के प्रसग में ब्रह्म और जीव के ऊपर दोनों अड़ गए। बड़ी देर तक विचार हुआ, परन्तु कुछ निश्चित नहीं हो सका कि इस शरीर में बोलने, खाने-पीने और चलने वाला जीव वास्तव में क्या है? अनेक तर्क-वितर्क उन दोनों में हुए किन्तु यह बात इतनी सरल तो थी नहीं, जितना ही वह तर्क करते गए उतनी ही बात भी उलझती चली गई। राज-काज से अवकाश था ही, कई दिनों तक इस विषय पर उनकी बातें चलती रहीं परन्तु कोई निश्चय नहीं हो पाया कि वास्तव में ब्रह्म क्या है और जीव क्या है? आखिरकार इस विषय को सुलझाने के लिए उन्होंने भगवान् ब्रह्मा के पास जाने का इरादा पक्का किया।

\+ \+ \+

दूसरे दिन प्रातःकाल विरोचन और इन्द्र प्रजापति भगवान् ब्रह्मा के आश्रम में पहुँचे। उस समय विरोचन का ओजस्वी बलवान् शरीर राज-चिह्नों से सुशोभित था। उसके उन्नत विशाल ललाट पर मणिमय किरीट की किरणें चमक रही थीं और कानों के चंचल कुण्डल मुख-छवि को और भी आकर्षक बना रहे थे। उसके कंधे पर एक रेशमी दुपट्टा शोभायमान था और बलिष्ठ भुजाओं में केयूर की चमक से बिजली भ्रान्ति हो रही थी। ऊर्जस्वित चौड़े वक्षस्थल पर मणियों की अनेक लड़ियों की आभा से दुकूल का रंग विचित्र लग रहा था। बायीं ओर पीठ पर भरा हुआ तरकस और दाहिनी भुजा से धनुष

लटक रहा था। पर उसके साथ आने वाले सुरपति इन्द्र की सजधज बिलकुल इससे विपरीत थी। उनके सुन्दर सुगठित शरीर पर ब्रह्मचारियों की तरह मृगचर्म शोभा दे रहा था और सिर पर लंबे केशों के सिवा कोई आभूषण या किरीट नहीं था। विशाल चौड़े कंधे पर लटकने वाली मूंज की जनेऊ और हाथों में पलाश की समिधा थी। उनका चिरसंगी बज्र भी उस समय संग नहीं था। दैत्यपति विरोचन सुरराज इन्द्र की इस विनीत मुद्रा पर मन ही मन हँस रहा था। उसकी दृष्टि में एक राजा को सर्वत्र राजवेश में ही जाना उचित प्रतीत हो रहा था, परन्तु सुरराज इन्द्र की धारणा इससे मेल नहीं खाती थी। वह दैत्यपति के मनोभावों को समझते हुए भी अपने पर सन्तुष्ट थे।

भगवान् ब्रह्मा अपने समीप आये हुए दोनों राजाओं को देखकर परम प्रसन्न हुए। बहुत दिनों से परिवार में फैली हुई वैराग्नि को शान्त करने वाले इन दोनों राजाओं की वह मन ही मन बहुत प्रशंसा करते थे। थोड़ी ही देर में कुशल-मंगल पूछने के बाद प्रजापति ब्रह्मा ने मुसकराते हुए देवराज इन्द्र से पूछा—'देवेश ! तुम्हारा यह विनीत वेश देखकर मुझे यद्यपि बड़ी प्रसन्नता हो रही है परन्तु में जानना चाहता हूँ कि तुम इस वेश में किस प्रयोजन से मेरे पास आए हुए हो ? दैत्यपति विरोचन का इस वेश में मेरे पास आना तो एकदम स्वाभाविक है, परन्तु तुम्हारे इस वेश का कोई विशेष तात्पर्य मै नही समझ पा रहा हूं।'

प्रजापति भगवान् ब्रह्मा की बातें सुनकर दैत्यपति विरोचन मुसकराने लगा, क्योंकि उसके मन में भी इन्द्र की इस वेश-भूषा का कोई तात्पर्य नहीं बैठ रहा था। देवराज इन्द्र थोड़ी देर तक चुप रह कर बोले—'भगवन् ! मै आप की सेवा में कुछ सीखने के अभिप्राय से आया हुआ हूँ, इसलिए एक छात्र का वेश मैंने धारण किया है। प्रभो ! मै जानना चाहता हूँ कि आत्मा क्या वस्तु है और ब्रह्म क्या पदार्थ है ?'

प्रजापति बोले—'देवराज ! तुम्हारी इस भावना का मै आदर

करता हूँ। मुझे अब विश्वास हो रहा है कि तुम्हारे जैसे राजा के राज्य में प्रजा को सन्तोष और शान्ति मिलेगी।'

दैत्यपति विरोचन को अब भी अपनी त्रुटि मालूम नहीं हुई। वह अपने को सँभाल नहीं सका, बीच ही में बोला—'भगवान् पितामह! मैं भी आपकी सेवा में इसी उद्देश्य से आया हुआ हूँ। कई दिन हो गए जब से हम लोग तर्कों के जाल में फँसते चले जा रहे हैं; पर यह नहीं जान सके कि ब्रह्म और आत्मा क्या है? इस आत्मा और ब्रह्म की खोज के लिए ही हम दोनों आपकी सेवा में आये हैं, परन्तु भगवन्! मैं देवपति की इस बात से सहमत नहीं हूँ कि राजा को कभी अपने व्यक्तित्व का अनादर करना चाहिए। इस दीन वेश-भूषा में न केवल उसका अनादर होता है; परन्तु इससे सारी जाति और देश का अपमान होता है। राजा सर्वदा और सर्वत्र राजा है, उसको ऐसी दरिद्र वेशभूषा नहीं अपनानी चाहिए!'

प्रजापति ब्रह्मा अपने प्रपौत्रों के इन परस्पर विरोधी विचारों को सुनकर पी गए। प्रसंग बदलते हुए वह बोले—'दैत्यपति! आत्मा और ब्रह्म की खोज में तुम दोनों को तल्लीन देखकर मुझे अब विश्वास हो गया है कि तुम में कल्याणकारी विचारों का उदय हुआ है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि तुम दोनों एक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करो।'

विरोचन ने बीच ही में कहा—'पितामह! बहुत दिनों की बात है, आपने एक बार कहा था कि आत्मा पापरहित, जरारहित, मरण रहित, शोक मुक्त क्षुधा और पिपासा से विरहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है। दोनों उसी आत्मा को खोजना चाहते हैं; परन्तु यदि उसे जानने के लिए एक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए तो हम सहर्ष तैयार हैं। जिस उपाय से भी हमें उस आत्मा का साक्षात्कार होगा, उसे पूर्ण करने के लिए ही हम आए हैं।'

इन्द्र ने विनीत स्वर में हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आपका

आज्ञा हमें शिर से स्वीकार है।'

इन्द्र और विरोचन ब्रह्मा की आज्ञा से पूर्ण ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन करने में लग गए। उस समय उनके मन में सत्यकाम, सत्य संकल्प, जरामरण रहित आत्मा के दर्शन की उत्कट अभिलाषा थी इस लिए ब्रह्मचर्य के कठोर नियमों के पालन में भी उन्हे रस मिल रहा था। उनकी आँखों से विस्तृत साम्राज्य का चित्र कुछ दिनों के लिए ओझल हो गया था, वह केवल आत्मा के दर्शन के लिए आकुल थे।

धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए एक वर्ष बीत गया। दोनों राजाओं के मन से कलुषित भावनाएं धीरे-धीरे दूर हो गईं मानसिक प्रसन्नता से उनके मुखमण्डल खिल उठे, और मदिरा की खुमारी से सदा लाल रहनेवाली उनकी आँखों में ब्रह्मचर्य की निर्मल ज्योति छा गई। सत्य, अहिंसा, दया, और सदाचार से उन्हें वह अपूर्व शान्ति मिलने लगी जो भूमण्डल के उदयास्त गिरिव्यापी साम्राज्य में कहीं ढूँढ़ने और ढुँढ़वाने से भी नहीं मिल रही थी।

प्रजापति को जब यह ज्ञात हुआ कि इन्द्र और विरोचन के एक वर्ष पूरे हो गए तब उन्होंने एक दिन प्रातःकाल उन्हे समीप बुलाकर कहा—'वत्सो'! तुम्हारी साधना मैं समझता हूँ, पूरी हो गई है, तुम्हें मैं ब्रह्म के स्वरूप का अब संकेत कर रहा हूँ सावधानी से सुनो।'

इन्द्र और विरोचन उत्सुक मन और सावधान इन्द्रियों के साथ ब्रह्मा के उपदेश को ग्रहण करने के लिए तैयार हो गए। ब्रह्मा थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोले—'वत्सो! तुम लोग जो यह आँखों के बीच में विद्यमान पुरुष देख रहे हो वही ब्रह्म पदार्थ है। योगी लोग सभी विषयों से इन्द्रियों को खींचकर, सांसारिक विषय-वासनाओं को छोड़कर इसी अक्षिपुरुष का पता लगाया करते हैं। इनको पा जाने से संसार के सभी पदार्थों का लाभ हो जाता है। जिन भाग्यवानों को इस आत्मस्वरूप ब्रह्म का पता लग जाता है उनकी समस्त इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह ब्रह्म सचमुच अमृत है, अभय है।'

बहुत सावधान रहने पर भी इन्द्र और विरोचन प्रजापति ब्रह्मा के इस संक्षिप्त उपदेश का यथार्थ मर्म नही समझ सके। उन दोनों ने यह समझा कि अक्षि पुरुष का अर्थ है आँख में जो मनुष्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह। उसी प्रतिबिम्ब को ब्रह्म मान कर उन दोनों ने फिर हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् पितामह ! वह पुरुष तो अच्छी तरह से चमकने वाली तलवार में, दर्पण में तथा जल में भी दिखाई पड़ता है, तो क्या वह सर्वत्र ब्रह्म है।'

प्रजापति ने मुसकराते हुए कहा—'जो आँख में रह कर उस तलवार में, दर्पण में अथवा जल में दिखाई पड़ने वाले उस पुरुष का दर्शन करता है, वही ब्रह्म है, अमृत है, अभय है।'

इन्द्र और विरोचन की बुद्धि में प्रजापति ब्रह्मा का यह उपदेश फिर नहीं बैठा। उन्होंने सोचा कि आखों में रहने वाला काला गोलक ही इस प्रतिबिम्ब का दर्शन करता है तो क्या वही ब्रह्म है ? पर यदि वही ब्रह्म है तो नेत्रहीन अंधों को किस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। इस असमंजस और दुविधा में उन्हे पड़े हुए देखकर ब्रह्माने कहा—'वत्स ! एक कटोरे में जल भर करले आओ, तब मैं तुम्हे अपनी बात ठीक ढंग से समझा सकूँगा।'

इन्द्र के कटोरे में जल ले आने पर प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—'तुम दोनों बारी बारी से इस कटोरे में देखो और बताओ कि तुम इसमें क्या देखते हो ?'

विरोचन और इन्द्र दोनों ने कटोरे में देखकर उत्तर दिया—'दाढ़ी, मूँछ, केश, कुण्डल, किरीट सब कुछ जैसा का तैसा दिखाई पड़ता है।'

प्रजापति ने उनके मनोभावों को ताड़ लिया और फिर मुसकराते हुए कहा—'अच्छा। अब तुम दोनों अपने अपने वस्त्रों और अलंकारों को हटा दो और दाढ़ी, मुँछ, केश आदि भी बनवा डालो, तब मैं तुम्हे ब्रह्म

के बारे में ठीक से समझा सकूँगा।'

इन्द्र और विरोचन ने पितामह भगवान् ब्रह्मा के वचन का पालन किया। थोड़ी ही देर में वह उसी तरह तैयार होकर फिर ब्रह्मा के पास आ गए जिस तरह बनकर आने का उनका आदेश था।

ब्रह्मा ने कहा—'अच्छा। अब तुम लोग इस कटोरे में देखकर बताओ कि इसमें क्या दिखाई पड़ता है।'

दोनों सम्राटों ने कटोरे के भीतर अपने दाढ़ी मूँछ रहित विचित्र मुखमण्डल को देखकर मुसकराते हुए कहा—'भगवन्! इस कटोरे में हमारे दाढ़ी, मूँछ, केश रहित मुखमण्डल का और आधे शरीर का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ रहा है। तो क्या यही ब्रह्म है, जो बार-बार इसे देखने की आज्ञा आप दे रहे है।'

प्रजापति भगवान् ब्रह्मा को इन जिज्ञासु सम्राटों के ऊपर दया आ गई। वह मुसकराते हुए बोले--'वत्स! अच्छा अब तुम लोग राजधानी वापस लौट जाओ और वहाँ सुन्दर वस्त्राभूषण से सुसज्जत होकर जल वा दर्पण में फिर देखना और मनन करना कि इन आँखों में रह कर जो इस जल में दिखाई पड़ने वाले विचित्र वेश-भूषा से समन्वित शरीर वा मुखमण्डल का दर्शन करता है वही ब्रह्म है, अभय है और अमर है।'

विरोचन और इन्द्र पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से उल्लास के साथ अपनी-अपनी राजधानी को वापस लौटे। उस समय उनके मन में ब्रह्म के प्रति विचित्र कल्पनाएँ हो रही थीं। वह उसी उधेड़ बुन में लगे हुए थे कि इतनी आसानी से जानने योग्य ब्रह्म के पीछे यह ऋषि मुनि लोग क्यों इतने परेशान रहते हैं? संसार से विरक्त होने की इन्हें क्यों आवश्यकता पड़ती है?

लोक पितामह प्रजापति भगवान् ब्रह्मा को यह विदित हो गया था कि इन दोनों सम्राटों के मन में अभी पूर्ण सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ

है और वह फिर कभी असन्तुष्ट होकर वापस लौटेंगे।

इधर अपनी-अपनी राजधानी में पहुँचकर विचित्र बहुमूल्य वेश भूषा से सुसज्जित होकर इन्द्र और विरोचन ने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब फिर से देखा। वह ब्रह्म के वास्तविक तथ्य को न समझ कर केवल इतना ही समझ सके कि इस दर्पण में विविध वस्त्रों एवं अलंकारों से सुशोभित दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का वास्तविक रूप यह हमारा शरीर ही ब्रह्म है। किन्तु देवराज इन्द्र विस्मय में पड़ गये, क्योंकि उन्हें ब्रह्मा के उपदेश और अपने अनुभव में बड़ी असंगति दिखाई पड़ रही थी। दैत्यपति विरोचन में तो यह विश्वास जम गया कि इस सुन्दर वस्त्राभूषण से सुसज्जित शरीर को छोड़ कर संसार में ब्रह्म नाम किसी दूसरी वस्तु का नहीं है। इस शरीर की ही सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए। इसके सिवा संसार में कोई दूसरा चेतन ब्रह्म नहीं है। यह शरीर ही ऐसा पदार्थ है, जिसकी सेवा से इस लोक में सर्वत्र सुख मिल सकता है; सन्तोष और शान्ति मिल सकती है, इसलिए तनिक सी असावधानी हो जाने पर शरीर रुग्ण हो जाता है और इतना कष्ट होता है अतः इस शरीर की सेवा में जो कुछ भी हो सके लगा देना चाहिए। यही शरीर ही ब्रह्म है, जब तक शरीर है तभी तक ब्रह्म है। इस विचार धारा में बहकर दैत्यपति विरोचन ने अपनी जातिवालों को बुलाया और उन्हें इसी शरीर को ब्रह्म मानकर उसकी प्रसाधना और बनाव-सिंगार में लगे रहने की शिक्षा दी। निर्बुद्ध दैत्यों के मन पर विरोचन की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी दिन से शरीर की उपासना में लग गए। विविध प्रकार के वस्त्र, आभूषण, भोजन, शयन, मदिरा, पान, सुन्दरी, सुन्दर वाहन, धन और सम्पत्ति जुटाने की होड़ में वे लग गए। उनके जीवन की धारा ही बदल गई। वह धीरे-धीरे असन्तोष और अशान्ति की चक्की में पिसने लगे। उनमें अपने ही बीच फिर से लड़ाई-झगड़े शुरू हो गए। प्रह्लाद के प्रयत्नों से उनमें कुछ दिनों से जो

देवत्व के विचार उदय हो रहे थे वह फिर आसुरी भावना से अभिभूत हो गए। वह फिर नये सिरे से अमर बन बैठे। विरोचन को इसका कुछ भी पता नहीं लग सका कि दैत्यों में इस प्रकार की वैर-भावना, लोभ मोह, हिंसा, अशान्ति, असन्तोष और क्लेश का संचार फिर क्यों हो रहा है? वह स्वयं रात दिन सुरा और सुन्दरी के शृंगार में शरीक होकर मस्ती का जीवन बिताने लगा।

उधर सुरपति इन्द्र का बुरा हाल हुआ। अमरावती में पहुँच कर विविध वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होना तो दूर दो-चार दिन के बाद खाना पीना भी उन्होंने बन्द कर दिया। रात-दिन ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने में लगे रहने पर भी जब कुछ उन्हें आत्मबोध नहीं हुआ, सन्तोष और शान्ति दूर होती गई तो एक दिन प्रातःकाल उठकर वह फिर विरोचन के पास आये। परन्तु यहाँ अपनी दाल गलते न देखकर फिर अकेले ही वह ब्रम्हा के पास पहुँच गए। उस समय प्रजापति भगवान् ब्रम्हा स्वयं ब्रह्म की उपासना में लीन थे। ब्रह्मा के समीप पहुँचकर सुरपति इन्द्र के मन में यह विचार सहसा उत्पन्न हुआ कि लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा स्वयं इस तरह आँखें मूँदकर ध्यानमग्न हैं और अपने शरीर की कोई चिन्ता नहीं करते, इनके शरीर पर कोई सुढंग से वस्त्र हैं न कोई आभूषण है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म इस शरीर से तो पृथक है। शरीर के साथ उस का सम्बन्ध नश्वर है। इसीलिए जल में प्रतिबिम्ब देखने की बात पर वह बार-बार सोचता और किसी न किसी विस्मयजनक स्थिति में फँस जाता; किन्तु इस बार-बार के विचार और मन में सच्ची जिज्ञासा की लगन से उसमें सत्य सिद्धान्त का कुछ उदय हो चला। उसने यह जान लिया कि जिस प्रकार इस शरीर को वस्त्र तथा आभूषणों से सुसज्जित कर लेने पर जल या दर्पण में प्रतिबिम्ब भी उसी प्रकार सुसज्जित दिखाई पड़ता है और दाढ़ी मूँछ तथा वस्त्र अलंकार से रहित होने पर प्रतिबिम्ब को दाढ़ी, मूँछ और वस्त्रालंकार से रहित देखते हैं। ऐसे ही यदि इस सुन्दर शरीर में से आँख कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियाँ

काटकर फेक दी जायें तो उसका प्रतिबिम्ब भी आँख, कान, नाक, आदि से हीन दिखाई पड़ेगा। इस तरह से तो यह छाया या प्रतिबिम्ब में दिखाई पड़नेवाली चीज नश्वर मालूम पड़ती है, क्योंकि जब सब का सब शरीर नष्ट हो जायगा तो उसका प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जायगा। किन्तु प्रजापति भगवान ब्रह्मा ने ब्रह्म को अमर, अजर और अभय बतलाया है। इस तरह जल में या दर्पण में इस प्रतिबिम्ब का बार-बार देखना व्यर्थ है, इसे देखकर ब्रह्म की प्राप्ति भला किस प्रकार हो सकती है। इसी प्रकार चिन्ता के प्रवाह में इन्द्र बहे जा रहे थे कि प्रजापति ब्रह्मा की समाधि भग हुई। अपने आसन से उठकर वह कमण्डलु लेकर खड़े हुए। सुरपति ने विनीत भावना से जाकर उनका चरण स्पर्श किया।

मुसकराते हुए प्रजापति ब्रह्मा ने पूछा—'वत्स ! इतनी शीघ्रता से राजधानी छोड़कर तुम क्यों चले आये ? तुम्हारे सदा प्रसन्न रहनेवाले मुखमण्डल पर यह चिन्ता की रेखाएँ क्यों खिची है ? मैं जानना चाहता हूँ कि तुम किस आपत्ति में ग्रस्त हो।'

सुरपति इन्द्र ने अपने सहज गम्भीर स्वर में निवेदन किया—
'प्रजापति ! आपने छाया पुरुष के दर्शन की बातें बतलाकर ब्रह्म प्राप्ति का जो साधन सिखाया था, उसके द्वारा मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। इस प्रकार उस अमर, अजर और अभय ब्रह्म की प्राप्ति ही मेरे जीवन की सब से बड़ी चिन्ता है और सब से बड़ी समस्या है। उसके आगे मुझे संसार में अब कोई भी चीज नही सुहा रही है। भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा कीजिए'।'

ब्रह्मा बाले—'वत्स इन्द्र ! तुम्हारी सच्ची जिज्ञासा और लगन देख कर मुझे प्रसन्नता हो रही है; परन्तु मैं यह देख कर विस्मय में पड़ा हुआ हूँ कि इस बार तुम्हारे साथ दैत्यसम्राट् विरोचन क्यों नहीं आया। तुम्हारी और उसकी मित्रता तो सारे जगत् में प्रशंसा का एक मुख्य विषय बन रही है, क्या तुम उसे इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के साथ

नहीं रखना चाहते ।'

सुरपति ने विनीत स्वर में कहा—'भगवन्! मैं इस बार भी दैत्यपति विरोचन के पास गया था और अपनी सारी मानसिक व्यथा भी उनसे कह सुनाई थी। परन्तु वह सहमत नहीं हुए। उनके मन में शरीर को ही आत्मा या ब्रह्म तत्त्व मान लेने की बात अच्छी तरह बैठ गई है। सभी दैत्यों को बुलाकर वह उनमें अपने इसी मत का प्रचार भी कर रहे हैं। मैं उन्हें किसी प्रकार भी इस मत से डिगा नहीं सका, यद्यपि अपनी सब शंकाएँ भी उन्हें सुना दी थी। ऐसी स्थिति में उन्हें साथ न रखने की बात ही नहीं उठती। वह मेरे सच्चे मित्र हैं और किसी प्रकार भी उनसे छल करना मुझे अभिप्रेत नही है।'

ब्रह्मा सुरपति की बातें बड़े ध्यान से सुनते रहे और थोड़ी देर तक गम्भीर भाव से चुप बने रहे। फिर बोले—'अच्छा वत्स! तुमको ब्रह्म-तत्व का साक्षात्कार अवश्य होगा परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि तुम अपने मन में उठनेवाली शंकाओं को दूर कर दो। यह शंकाएँ बिना पुनः पूर्ण ब्रह्मचर्य के दूर नहीं हो सकतीं। मेरे आश्रम में रहकर तुम एक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के नियमों का पुनः पालन करो। तब मैं तुम्हें उस ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का मर्म बतला सकूँगा, क्योंकि यदि मैं तुम्हें अभी सारी बातें बताऊँ तो तुम उन्हें ग्रहण नहीं कर सकोगे। ब्रह्मचर्य के बिना शान्ति और सन्तोष नहीं मिलता और बिना शान्ति और सन्तोष के ऐसे गम्भीर विषय को ग्रहण नहीं किया जा सकता।'

सुरपति प्रसन्न मन से प्रजापति के पुनीत आश्रम मे एकनिष्ठा से ब्रह्मचर्य के नियमों का पुनः पालन करने लगे। उनके मन में ब्रह्मतत्व की सच्ची जिज्ञासा थी और उनकी बाहरी और भीतरी आँखे उसी अजर, अमर और अभय आत्मा के दर्शन को लालायित थीं।

धीरे-धीरे प्रजापति भगवान् ब्रह्मा के आश्रम में सुरपति को ब्रह्मचर्य व्रत में निरत रहते हुए एक वर्ष बीत गए। सुरपति का तेजस्वी

शरीर इस अखण्ड ब्रह्मवर्चस् की आभा से प्रदीप्त हो उठा। उनके मन की कितनी व्याधियाँ मिट गईं और अन्तःकरण में एक प्रकाश-सा दिखाई पड़ने लगा। ठीक उसी दिन, जिस दिन उनके ब्रह्मचर्य व्रत को प्रारम्भ हुए एक वर्ष बीता था, प्रजापति ब्रह्मा उनके समीप स्वयं आये और मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! मैं समझता हूँ कि तुम अब अपने को अधिक सन्तुष्ट और शान्त पाते होगे। देवराज ! इस संसार में ब्रह्मचर्य से बढ़कर शान्ति का कोई दूसरा साधन नहीं है। ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य द्वार यही है, आत्मा का दर्शन इसी के द्वारा हो सकता है। अच्छा ! अब तुम मुझ से उस आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप के बारे में अपनी शंकाओं का समाधान ले सकते हो।'

इन्द्र ने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् ! मेरी कितनी शंकाएँ तो स्वतः दूर हो गईं, मैं यह समझने लगा हूँ कि छाया पुरुष कभी आत्मा या ब्रह्म नहीं हो सकता। अतएव कृपया आप मुझे उस ब्रह्म स्वरूप का संक्षेप में परिचय बताइये जिसके ध्यान में आप स्वयं सदा लगे रहते हैं। मुझे अब अपनी शंकाओं के बारे में कोई नई जानकारी नहीं प्राप्त करनी है।'

प्रजापति मुसकराते हुए प्यार भरे स्वर में बोले—'वत्स इन्द्र ! तुम्हारी सच्ची जिज्ञासा से मेरे मन में आज बड़ी प्रसन्नता हो रही है, मुझे अब यह निश्चय हो रहा है कि तुम्हारे प्रयत्न से देवताओं का दुःख सदा के लिए दूर हो जायगा। तुम्हारे समान सरल, जिज्ञासु और निष्कपट प्रभु को पाकर देवता विजयी होंगे। अब मैं तुम्हें उस परमात्म-स्वरूप ब्रह्म का संक्षेप में परिचय बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो—

वत्स ! वह आत्मा या ब्रह्म इस हमारे शरीर में ही अवस्थित है, वह कहीं अलग नहीं है, उसे पहचानने वाली आँखें चाहिए। इस शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह अमर है, इसके वृद्ध हो जाने पर भी वह वृद्ध नही होता, क्योंकि वह अजर है और इसके भय, व्याधि एवं दुःखग्रस्त होने पर भी वह भय-

रहित, नीरोग और दुःखरहित रहता है क्योंकि उस पर सांसारिक सुख-दुःख की छाया नहीं पड़ती वह अभय और निरापद है।'

इन्द्र ने सकुचाते हुए विषय को स्पष्ट करने की इच्छा से निवेदन किया—'भगवन्! मैं उस आत्मतत्व का दर्शन किस प्रकार कर सकता हूँ? क्या उसे मैंने कभी देखा है?'

ब्रह्मा बोले—'वत्स! जल वा दर्पण में छाया पुरुष को दिखाते हुए मैंने बताया था कि जो इन आँखों में रह कर उस छाया का दर्शन करता है वही आत्मा या ब्रह्म है। उसे दूसरे उदाहरण द्वारा पुनः बतला रहा हूँ, सुनो। स्वप्न में तुम अपनी शैय्या पर पड़े रह कर भी स्वप्न की अवस्था में जिसको देखते हो अर्थात् जो स्वप्न में इसी शरीर के द्वारा अनेक प्रकार के सुख और दुःख का अनुभव-सा करता है वही आत्मा है, वही ब्रह्म है और उसे ही अमृत और अभय भी कहते हैं।'

इन्द्र ने थोड़ी देर सोचने के बाद कहा—'भगवन्! किन्तु इस बात से मेरे मन में यह सन्देह उठ रहा है कि स्वप्न की अवस्था में भी मनुष्य उसी शरीर से ही सुख दुःखादि का अनुभव करता है। इस देह के नेत्र रहित होने पर भी स्वप्न में विविध प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। अन्धा भी नेत्र-सुख का आनन्द उठाता है। इस शरीर का कोई भी रोग या दोष स्वप्न में आत्मा से सम्बद्ध नहीं होता! शरीर का बुढ़ापा या ज्वर आदि कोई रोग स्वप्न में नहीं दिखाई पड़ता। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि शरीर का कोई भी रोग-दोष आत्मा में लिप्त नहीं होता। पहले मैंने जाना था कि शरीर का विनाश होने पर छायात्मा विनष्ट हो जाती है, किन्तु अब यह स्पष्ट रूप में जान गया कि शरीर की अवस्था बदलने पर भी स्वप्नावस्था की आत्मा की अवस्था नहीं बदलती। भगवन्! किन्तु इस पर भी आत्मा की निर्भयता की बात समझ में नहीं आई, क्योंकि जब हम स्वप्न में अपने किसी प्रियजन की मृत्यु देखते हैं तो स्वप्नात्मा को रोता हुआ पाते हैं। और इधर

आपने यह कहा है कि आत्मा अभय है। अभय आत्मा को तो इस अवस्था में भी दुःख रहित होना चाहिए।'

प्रजापति भगवान् ब्रह्मा देवराज इन्द्र की तर्क संगत बातें सुनकर मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! इस सन्देह के निवारण के लिए तुम्हे मेरे आश्रम में अभी कुछ दिन तक और ब्रह्मचर्य के साथ रहना पड़ेगा। अभी तुम्हारा चित्त भली भाँति शान्त नहीं है। बहुत दिनों तक राजनीति के झमेलों में पड़कर तुम्हारी सहृदयता कुछ सूख गई है, इसी से मेरे बतलाये गये विषयों को तुम यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं कर पाते।'

इन्द्र ने प्रजापति की आज्ञा मान कर उनके पुनीत आश्रम मे अपनी ब्रह्मचर्य-साधना पुनः आरम्भ कर दी। उन्हें इसका तनिक भी दुःख नहीं हुआ, क्योंकि ब्रह्म की साधना में निरत रहने वाले ऋषियों-मुनियों से उन्हे इस दुर्गम मार्ग का पता बहुत पहले ही मिल चुका था। शान्त मन, संयत इन्द्रिय और शुद्ध अन्तःकरण से वह ब्रह्मचर्य के नियमों में निरत रहकर ब्रह्म के साक्षात्कार की चिन्ता में पुनः लग गए।

कुछ समय बीत जाने के बाद प्रजापति ने उचित अवसर जानकर एक दिन प्रातःकाल समाधि से विरत होकर देवराज को अपने समीप बुलाया और पूछा— 'वत्स ! अब मैं समझता हूँ कि तुम अपनी शकाओं का निराकरण मुझसे कर सकते हो।'

देवराज ने विनीत भाव से हाथ जोड़ कर कहा—'भगवन् मेरे मन में अब कोई शङ्का नहीं है, केवल ब्रह्म का यथार्थ रूप मझे बतलाने की कृपा करे। पिछली बार आपने जो यह बताया था कि स्वप्न अवस्था में जिसको देखते हो वही अमर, अजर और अभय ब्रह्म या आत्मा है, इसमें मैं इस विषय को नहीं समझ सका कि आत्मा किस प्रकार निर्भय है, क्योंकि स्वप्नावस्था में वह दुःख शोकादि का अनुभव करती है! कृपया इसी विषय को विस्तार सहित मुझे बताइये।'

प्रजापति ब्रह्मा ने गम्भीरता से कहा—'वत्स ! इस विषय को मैं

बतला रहा हूँ, सुनो। स्वप्न की अवस्था साधारण रीति से दो प्रकार की होती है, एक तो वह जिसमें विविध कार्य-कलापों का अनुभव-सा होता है, दूसरी वह जिसमें विषय वा उससे सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रियों का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। उस प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति की अवस्था में कोई कार्य-कलाप नहीं होता। वह जो आनन्दमय अवस्था है वही सच्चे अर्थ में ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप है। जिसको तुमने जल वा दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हुए आँख के द्वारा देखा है, जिसको स्वप्न में भी क्रियाशील या सुख दुःखादि का अनुभव करते हुए देखा है वही इस सुषुप्ति अवस्था में सत् रूप से वर्तमान रहता है। यही ब्रह्म या आत्मा है। अमर, अजर और अभय आदि उपाधियाँ इसी से संबंध रखती हैं।'

देवराज इन्द्र ने विस्मय प्रकट करते हुए कहा—'परन्तु भगवन्! उस सुषुप्ति अवस्था में जब आत्मा 'सत्' रूप से वर्तमान रहती है तो उसे अपनी सत्ता का बोध क्यों नहीं होता? अर्थात् वह 'मैं आत्मा हूँ' इस तरह का अनुभव क्यों नहीं करती? जाग्रत या स्वप्नावस्था की तरह इस सुषुप्ति अवस्था में भी वस्तुज्ञान क्यों नहीं रहता? यदि ऐसा ही है तो फिर इस तरह क्यों न मान लिया जाय कि उस सुषुप्ति अवस्था में आत्मा एकदम रहती ही नहीं, वह विलुप्त हो जाती है; पर आप कहते हैं कि वह अमर और अजर है। भगवन्! यह बात तो मेरे मन में कुछ नहीं बैठ रही है। कृपया इसे स्पष्ट रूप में मुझे पुनः समझाइये!'

देवराज की बातें सुनकर ब्रह्मा मुसकराये। दाहिने हाथ को उठाकर वह बोले—'वत्स सुरराज! तुम्हारा चित्त शुद्ध होने में अब बहुत देर नहीं है, तुम थोड़े दिन और ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का पालन करो फिर तो सारी बातें तुम स्वतः समझ जाओगे। अभी कुछ कसर रह गई है, पूर्णरूप से अज्ञान का परदा नहीं हटा है।'

इन्द्र फिर एकनिष्ठ होकर ब्रह्मा के पास आश्रम में ब्रह्मचर्य के समस्त कठोर नियमों का पालन करने लगे। यह जानकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता

हो रही थी कि सफलता के दिन अब बहुत समीप हैं। इस प्रकार कुछ समय तक फिर ब्रह्मचर्य की साधना में तन-मन से निरत रहने के बाद एक दिन सायंकाल प्रजापति ने देवराज को अपने समीप बुलाकर कहा—'वत्स! अब तुम्हारी साधना पूरी हो चुकी है। आज मैं तुम्हे ब्रह्मस्वरूप का पूर्ण परिचय करा दूँगा। तुम्हारे मन में जो भी शंकाएँ हों मुझसे उन सब का निराकरण करा लो।'

देवराज का सारा शरीर पुलकित हो गया, कण्ठ भर आया और वाणी कुछ गम्भीर हो गई! हाथ जोड़कर बोले—'भगवन्! मैं यही जानना चाहता हूँ कि इस विनाशी शरीर में रहने वाली आत्मा अविनाशी किस तरह हुई। इसकी अमरता पर मुझे भारी सन्देह हो रहा है, कृपया इस सन्देह का निवारण कर मुझे कृतार्थ कीजिए।'

प्रजापति बोले—'वत्स! इस आत्मा का भी विनाश नही होता। विनाशी तो यह शरीर है, जैसा कि तुम प्रतिदिन देखते हो, कितने लोग मरते और नवीन शरीर धारण करते रहते हैं। इस शरीर के ऊपर रात दिन आठों प्रहर मृत्यु का फेरा लगा रहता है। शरीर, इन्द्रिय अन्तःकरण सभी मृत्यु के मुख में पड़कर विनष्ट हो जाते है पर यह आत्मा मृत्यु के वश की चीज नहीं। इसी आत्मा के भोग के लिए तेज, जल और पृथ्वी द्वारा इस शरीर की रचना होती है। यह आत्मा चैतन्य इस मरणशील शरीर में जीवरूप से अवस्थित होती है, वास्तव में यह जीव इन्द्रिय आदि से सर्वथा रहित है। अज्ञान के कारण ही यह हाथ पैर मुख आदि से युक्त दिखाई पड़ती है। सुख या दुःख इस शरीर के किए गए धर्म या अधर्म के फलस्वरूप है। आत्मा में कोई धर्म या अधर्म न होने के कारण इसे सुख-दुख का अनुभव भी नहीं होता। यह सुख और दुख इन्द्रियों के द्वारा मन पर होते हैं। विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग या वियोग होते ही मन में सुख या दुख का उद्भव होने लगता है। चैतन्य आत्मा में इस तरह का कोई संयोग या वियोग कभी होता ही नहीं। जब तक वह इस

शरीर में अवस्थित रहता है, तब तक इन्द्रियों तथा मन का संयोग उसे प्राप्त रहता है। इन्हीं इन्द्रियों तथा मन के कारण सुख-दुःखादि का अनुभव शरीर में होता है। शरीर जब नष्ट हो जाता है तब उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होता है, उस समय सुख दुःखादि की कोई कल्पना भी नहीं होती। पर वत्स ! वह आत्मा शरीर की उस अवस्था में भी निर्मल और निरवच्छिन्न आनन्द-स्वरूप रहती है। वह सर्वदा अपरिवर्तनीय, नित्य और एक मात्र आनन्द स्वरूप है विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख उसी आनन्द का कुछ थोड़ा-सा परिचय देते हैं। जिस प्रकार सूर्य का स्वरूप प्रकाश करना होता है न कि इस वस्तु का प्रकाशित करना या उस वस्तु को प्रकाशित करना, उसी प्रकार आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है, यह कान का सुख है या वह नेत्र का सुख है—यह सब आत्मा के आनन्द का सच्चा स्वरूप नहीं है। बल्कि उसी के अन्तर्गत है।'

देवराज बीच मे हाथ जोड़कर बोल पड़े—'भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह आत्मा तीनों—जागने, स्वप्न देखने तथा प्रगाढ़ निद्रा में सोने की—अवस्थाओं में किस प्रकार इस शरीर में अवस्थित रहती है ? कृपया इस विषय को मुझे स्पष्टतया बतलाइए।'

ब्रह्मा बोले—'वत्स ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाओं में वह आत्मा एकरूप रहता है। जाग्रत अवस्था में बाह्य विषय और शरीर के इन्द्रियों के संयोग से शब्द-स्पर्श आदि की उपलब्धि होती है, स्वप्न अवस्था में वाह्य विषयों और इन्द्रिय के शान्त होने पर भी वासनाओं से युक्त अन्तःकरण जागता रहता है। उसी वासनामय अन्तःकरण के द्वारा विविध सुख-दुःखादि की अनूभूतियाँ होती रहती है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में पहुँच कर वह अन्तःकरण भी शान्त हो जाता है, केवल प्राण शक्ति जागती रहती हैं। इस अवस्था में आत्मा का विनाश नहीं होता। केवल अन्तःकरण के शान्त हो जाने से किसी विशेष ज्ञान की अनुभूति नहीं होती। उस

समय में केवल साधारण ज्ञान मात्र रह जाता है। उस स्थिति में शरीर और इन्द्रियों समेत अन्तःकरण के विलीन हो जाने से सुख दु:खादि की अनुभूति नहीं होती। किन्तु शरीर के तीनों उक्त दशाओं में अविनाशी आनन्दमय आत्मा एक रूप में टिकी रहती है। हे वत्स! वही आत्मा ही ब्रह्म है, अमृत है और अभय है।'

देवराज ने विनीत भाव से पूछा—'भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूँ कि इन समस्त इन्द्रियों समेत शरीर से आत्मा का क्या सम्बन्ध है?'

प्रजापति बोले—'वत्स! जैसे रथ को खींचने के लिए उसमें घोड़े आदि नाध दिए जाते हैं वैसे ही इस शरीर रूपी रथ में जीव के कर्म फल को भोगने के लिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि नियुक्त है। राजा जैसे अपने मंत्री को राज्य के अधिकार में नियुक्त करता है वैसे ही ईश्वर जीव को दर्शन, श्रवण आदि व्यापारों में नियुक्त करता है। जिस प्रकार रथ आदि अचेतन पदार्थों में चेतन सारथी के द्वारा क्रिया सम्पादित होती है उसी प्रकार चैतन्य आत्मा के द्वारा जड़ इन्द्रियादि में भी क्रिया करने की शक्ति हो जाती है। जीव की मुख्य दो शक्तियाँ होती है, पहली है विज्ञान शक्ति याने मन और दूसरी क्रिया शक्ति याने प्राण है। कान, आँख आदि इन्द्रियाँ उसी प्राण शक्ति के ही अंश व परिणाम है। यह समस्त इन्द्रियाँ विशेष लब्धि की साधन है। इस प्रकार इस शरीर में रह कर जो इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान लाभ करता है वही जीव है। उसी के सूँघने के लिए नाक, देखने के लिए आँखे, बोलने के लिए वाणी, सुनने के लिए कान और चिन्तन आदि करने के लिए मन है। ज्ञान ही उस आत्मा का सच्चा स्वरूप है और इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के द्वार हैं। इस विषय को मैं समझता हूँ कि अब तुम खूब अवगत कर चुके हो, यदि तुम्हारे मन में कोई शङ्का या गाँठ अब भी बनी हो तो निःसंकोच मेरे सामने उसे प्रकट करो। हे वत्स! तुम्हारे जैसे योग्य पात्र के लिए मेरे

पास कुछ भी गोपनीय नहीं है।'

इन्द्र कृतार्थ होकर प्रजापति ब्रह्मा के चरणों पर गिर पड़े। उनके नेत्रों में हर्ष के आँसू छलक पड़े और हृदय में उल्लास की बाढ सी आ गई। प्रजापति ने देवराज को अपने दोनों हाथों से उठाकर गले लगा लिया और पीठ पर दाहिना हाथ फेरते हुए कहा—'वत्स! तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, देवगण तुम्हारी उत्सुक आँखों से प्रतीक्षा करते होंगे। इस ब्रह्म विद्या के गुप्त रहस्य को बतलाकर तुम उन्हें अमर बना दो। सांसारिक बाधाओं से उनका भय मिटा दो। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो।'

देवराज इन्द्र प्रजापति भगवान् ब्रह्मा से जब ब्रह्मविद्या के इस गुप्त रहस्य को भली भांति अवगत करके अपनी राजधानी को वापस लौट रहे थे तो उन्हे बीच मार्ग में ही दैत्यों के स्वामी विरोचन की दुर्दशा मालूम हुई। शरीर को आत्मा या ब्रह्म मानने वाले दैत्यो ने अपने सारे राज्य में खून खराबी मचा दी थी, अधिकार और विषय भोग की लालसा में वह पूरे असुर बन बैठे थे, न उन पर विरोचन की कोई हुकूमत थी और न विरोचन को ही उनके कल्याण की कोई चिन्ता थी। छोटे-बड़े राजा-प्रजा सब अपने-अपने स्वार्थ मे अंधे होकर परमार्थ को भूल बैठे थे।

इस प्रकार सुरपति इन्द्र और दैत्यपति विरोचन ने प्रजापति ब्रह्मा से प्राप्त अपनी अपनी ब्रह्मविद्या द्वारा अपने-अपने समाज का नेतृत्व किया। एक ने शरीर को नश्वर मान कर अमर और अभय आत्मा की उपासना कर अमरतत्व की प्राप्ति की और अपनी सारी प्रजा को अमर बनाया और दूसरे ने अविनाशी आत्मा की उपेक्षा कर नश्वर शरीर की उपासना में निरत रहकर स्वयं विनाश की प्राप्ति की और सारी प्रजा को भी असुर अर्थात् स्वार्थी और पाप कर्म में निरत रहने वाला बनाया।

अजातशत्रु और बालाकि

प्राचीन काल में कोसल प्रदेश में एक बालाकि नाम का मुनि कुमार रहता था। उसने पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य के सभी नियमों का तन-मन से पालन कर महर्षि भरद्वाज के आश्रम में विधिवत् वेदाध्ययन किया। छहों शास्त्रों को भा पूरा-पूरा पढ़ कर समाप्त किया। वेदों और शास्त्रों पर पूर्ण अधिकार जब उसे प्राप्त हो गया तो दयालु मुनिवर भरद्वाज ने उसका समावर्तन संस्कार कर घर जाने की आज्ञा प्रदान की। बालाकि गुरु के आश्रम में रहकर अपनी प्रखर बुद्धि और अगाध विद्या के गौरव का मूल्य समझने लगा था। उसका यह साधारण नियम-सा बन गया था कि गुरु के आश्रम में बाहर के जो विद्वान् ऋषि मुनि आते उनके साथ शास्त्रार्थ करता और उन्हे पराजित करने की चेष्टा में भी रहता। इस कुचेष्टा में उसने बीसों ऐसे ऋषियों को पराजित भी कर दिया था। इसलिए जब महात्मा भरद्वाज उसे अपने आश्रम से सर्वदा के लिए घर जाने की आज्ञा देने लगे तो बड़ी सरलता और स्नेह भरी वाणी में मुसकराते हुए बोले—'वत्स बालाकि! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि बड़ी प्रखर है, और तुमने बहुत परिश्रम से वेदों और शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया है। परन्तु बेटा! कभी भूल कर भी इसका गर्व मत करना और किसी विद्वान् पण्डित का अपने इस विद्या-गर्व में उन्मत्त होकर अपमान मत करना। क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि जो विद्वान् होकर भी गर्व के कारण किसी विद्वान् को अपने तर्क जाल में लपेट कर पराजित कर देता है और उसे लज्जित करता है वह महानीच सर्प से भी बढ़कर दुःखदायी है, उसकी विद्या निरर्थक है और उसकी बुद्धि हिंसक है। उससे कभी समाज का

हित नहीं होता । वत्स बालाकि ! मेरे आश्रम में रहकर तुमने अनेक विद्वानों का अपमान किया है, उन्हें पराजित करने की प्रसन्नता तुमने मुझसे भी प्रकट की है, परन्तु मैं एक प्रिय शिष्य होने के नाते तुम्हारी सब बातें सुनता रहा, यद्यपि मुझे उससे बहुत दुःख भी होता था । पर अब गृहस्थाश्रम में जाकर तुम अपने इस व्यवहार को सर्वथा त्याग देना । वत्स ! इससे समाज में बड़ी कटुता फैलती है और चारों ओर बड़ी निन्दा होती है । मेरे आश्रम में एक ब्रह्मचारी होने के नाते तुम्हारी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई । परन्तु गृहस्थी में रहकर भी यदि तुम अपना यह दुःखदायी व्यवहार जारी रखोगे तो जीवन बहुत दुःखमय हो जायगा और प्रत्येक कार्य में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा । जाओ, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो, जगत् का उपकार करने की तुममें सुबुद्धि आवे । वत्स ! मेरी विद्या तुम जैसे सत्पात्र में पड़कर फलवती हो, इससे बढ़कर मेरे हृदय में तुम्हारे लिए कोई शुभकामना नहीं है ।

गुरु के इस उपदेश भरे आशीर्वाद को युवक बालाकि ने अमर्ष के साथ ग्रहण किया । उसके मन में उन दिनों के चित्र खिंच उठे जब दूसरे शिष्यों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा उनके गुरु दिया करते थे । वह देखता था कि किस प्रकार सुप्रसन्न मन, गम्भीर वाणी और सजल नयन होकर भरद्वाज दूसरे शिष्यों को घर जाने का आशीर्वाद देते थे परन्तु आज उनमें एकदम परिवर्तन था । उनके मुख पर प्रसन्नता की न वह चमक थी, न उनकी आँखों में वह स्नेह के बिन्दु थे । उनकी वाणी में उस तरह के शुभकामना भरे आशीर्वादों की पवित्रता भी नहीं थी । क्या ऐसा कारण है कि एक दयालु और महात्मा गुरु होकर भी उनके व्यवहार में इस तरह का परिवर्तन आ गया है ? गर्वीले बालाकि के हृदय में बहुत ऊहापोह करने पर भी यह बात नहीं बैठी और वह घर जाने की प्रसन्नता भूल गया । अभी तक उल्लास से भरे चमकते हुए उसके मुखमण्डल पर एकाएक विषाद की काली रेखा खिंच गई, आँखों में स्नेहाश्रु के बदले अमर्ष की कड़वाहट आ

गई, और कण्ठ गद्गद होने के स्थान पर सूख गया, ओंठ मुरझा गए और हृदय में मचे हुए इस तूफान में वह स्वयं उड़ने-सा लगा। किसी तरह नित्यकर्म के अभ्यास के कारण गुरु के चरणों पर झुककर उसने चरणरज को शिर में लगाया और काँपते हाथों को जोड़कर वह खड़ा हुआ। उस समय उसके चरणों में भी कँपकपी फैल रही थी।

महात्मा भरद्वाज को अपने प्रिय शिष्य की इस मनःस्थिति का पता लग गया, वह उसके अगाध दुःख को समझ गए। मंगल में अमंगल की दुर्भावना उन्हें भी सह्य नही थी अतः झट मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! इतने दिनों तक मेरे आश्रम मे रहकर तुमने जिस प्रकार मेरी सेवा की, उसका भूल जाना मेरे लिए सरल नहीं है। तुम्हारे समान निष्कपट, सदाचारी, प्रखर बुद्धि और परिश्रमी छात्र मैं म एक होते है, मुझे आज यह कहते हुए प्रसन्नता हो रही है कि तुम मेरे शिष्यो में अनन्य हो। तुम्हारी विद्या और तुम्हारी बुद्धि दोनों ने मुझे लुभा लिया है। आज तुम्हारे चले जाने से मेरे शिष्यों मे ऐसा कोई नही दिख रहा है जो तुम्हारी कमी को पूरी करेगा। वत्स ! जाओ, गृहस्थाश्रम धर्म का विधिवत् इसी तरह पालन करो। अपने पूज्य माता-पिता की मेरी ही तरह सेवा करना, अपने अतिथियों का सब तरह सम्मान करना। उमर में अपने से बड़े विद्वान् ब्राह्मणों को अपना गुरु मानना, उनसे कभी वाद विवाद मत करना और अपने समान या अपने से उमर में छोटे विद्वानों का भी कभी भूलकर अपमान मत करना। वत्स ! विद्वान् के लिए इस ससार में अपमान से बढ़कर दुःखदायी वस्तु कुछ नहीं है—इस बात पर सदैव ध्यान रखना।'

गुरु की इस आखिरी और सान्त्वनाभरी वाणी में बालाकि का अमर्ष बहुत कुछ दूर हो गया, मन का भारीपन आँखों से बाहर निकल पड़ा और हृदय का असह्य गर्मी कुछ शान्त हुई। वह गद्गद् स्वर में साश्रु नयन बोला—'पूज्य गुरुदेव ! आज पहली बार मेरे जीवन में मेरे स्वाभिमान को ठेस लगी है। परन्तु अब मै स्वस्थ हो गया हूँ, आपके

उपदेशामृत से मेरी मानसिक व्याधियाँ शान्त हो गई है, अब मुझे हृदय मे क्षमा कीजिए और अपने हृदय में मेरा स्थान पूर्ववत् बनाए रखिए। भगवन् ! आपके समान दयालु और महात्मा गुरु के चरणों की पवित्र शीतल छाया में रहकर भी मेरा ताप जो जड़ से नहीं छूटा इसका मुझे दुःख हो रहा है। मन के किसी अज्ञात कोने में छिपी हुई यह संताप की अग्नि मुझे इस तरह क्यों परेशान कर रही है, इसी का मुझे विस्मय और दुःख हो रहा है। गुरुदेव ! मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मैं सदा के लिए संताप रहित हो जाऊँ।'

भरद्वाज बालाकि को छाती से लगाते हुए साश्रुनयन और गद्गद् स्वर में बोले—'मेरे प्यारे ! जाओ ईश्वर की कृपा से तुम्हारा सारा संताप दूर हो जायगा। वत्स, तुम्हारे निर्मल हृदय के आकाश में यह संताप की छाया आज जड़ से विलीन हुई, अब तुम्हे कभी दुःख नही होगा। पर देखना, मेरी पहले की बातों पर ध्यान देना। किसी विद्वान् ब्राह्मण का स्वप्न में भी अपमान करने की बात मत सोचना।'

बालाकि अन्तिम बार गुरु के चरणों पर विनत होकर अपने घर की ओर प्रस्थित हुआ। इतने दिनों के बाद गुरु के आश्रम को छोड़ते हुए उसे घर छोड़ने से भी बढ़कर दुःख हो रहा था। उसके प्यारे साथियों ने आश्रम से बहुत दूर तक आकर उसको पहुँचाया और आँखों में आँसू भर कर सदा अपनी सुधि बनाए रखने की प्रार्थना की। बालाकि ने अपने प्यारे साथियों से गले मिलकर आश्रम की ओर एक बार प्यार भरे नेत्रों से देखा और आंसू भरकर अनमना सा आगे के पथ पर वह चलने लगा। उसके निस्पन्द मन में हर्ष और शोक का एक विचित्र अनुभव हो रहा था। अपने चिर वियुक्त माता-पिता, परिवार और पुरजनों से मिलने की जितनी उसे उत्सुकता थी, उससे कम दुःख अपने दयालु गुरु, ममतामयी गुरुपत्नी और स्नेह भरे प्यारे साथियों को छोड़ने का नहीं था। आश्रमवासी पेड़-पौदे और पशु-पक्षी उसे पीछे खींचते हुए से मालूम पड़े परन्तु कर्त्तव्य की डोर पकड़कर वह अपने घर जाने वाली

पगडण्डी पर आगे बढ़ता गया। बहुत दूर तक पहुँच जाने के बाद भी वह थोड़ी-थोड़ी देर में अपने प्यारे आश्रम की ओर देख लेता, और अपने खड़े हुए साथियों को आश्रम में लौटने का इशारा किया करता।

बहुत दिनों बाद अपने घर में वापस आकर बालाकि ने देखा कि निर्धनता के कारण उसके परिवार की दुर्दशा बहुत बढ गई थी। वृद्ध पिता और माता नियमित आहार के अभाव से असमय में ही अशक्त से बन गए थे। छोटे-छोटे भाई बहनों को कृश शरीर देखकर वह भीतर ही भीतर दुःखी होने लगा। आखिरकार किसी तरह दो-तीन दिन घर पर बिताकर वह अपने पिता से आज्ञा प्राप्त कर कुछ धन प्राप्त करने की चिन्ता में प्रवास के लिए निकल पड़ा।

+ + +

काशी का राजा अजातशत्रु अपनी विद्या और दान शक्ति के कारण भूमण्डल भर में विख्यात हो गया था। उसके पास न केवल दान ग्रहण करने के लिए ही देश-देशान्तर से याचक गण आते, बल्कि विद्याध्ययन के लिए भी बहुतेरे मुनिकुमार और राजाओं के लड़के उसके भवन के समीप बने हुए आश्रमों में निवास करते। उसकी विद्या इतनी चढ़ी-बढ़ी थी कि बड़े-बड़े पण्डित और ऋषि-मुनि भी ऐसे विषयों पर उससे शङ्का समाधान करते जिसका तात्पर्य उनसे न लगता। काशी विद्या की पुरी बहुत प्राचीन काल से ही कही जाती थी पर राजा अजातशत्रु के राज्य-काल में उसकी प्रतिष्ठा सारे भूमण्डल में बढ गई थी। राजा अजातशत्रु की कीर्ति से काशी की और भी प्रतिष्ठा हुई। वहाँ के पण्डित और ऋषि-मुनि इस बात में कोई संकोच नहीं करते थे कि राजा अजातशत्रु क्षत्रिय है और वह ब्रह्मण हैं। ब्राह्मण होकर भी वह सब उस ब्रह्मज्ञानी राजा के समीप अपनी शंकाएँ निपटाते थे और उससे प्रचुर दक्षिणा भी प्राप्त करते थे। राजा अजातशत्रु की कीर्ति-कथा मुनिकुमार बालाकि के कानों में भी पड चुकी थी। गुरु के मुख से सैकडों बार राजा अजात-

शत्रु की प्रशंसा सुनकर वह जान चुका था कि वह कितना बड़ा पण्डित और दयालु है। इसलिए जब घर की दीन दशा से उसके हृदय में बड़ी ग्लानि पहुँची तभी उसने तुरन्त राजा अजातशत्रु के समीप जाने का निश्चय पक्का कर लिया। घर से मार्ग के लिए थोड़ा सा पाथेय लेकर बालाकि वाराणसी के पथ पर अग्रसर होने लगा। उस समय उसके मन में अपने दयालु गुरु की ममता भरी वाणी गूँज रही थी।

काशी के पथ पर चलते-चलते बालाकि थक गया। पथ में कई दिन कई रातें बीत गईं पर काशी इतनी समीप तो थी नहीं। भूख-प्यास और थकान से वह श्रान्त हो चला। पर उत्साह की लहरों पर तैरते हुए उसके मन में निराशा का संचार नहीं हुआ। आखिर कार कई दिनों तक चलते रहने के बाद काशी समीप आई। कृशाङ्गी वरुणा नदी को पार कर जब वह गंगा के पवित्र किनारे पर पहुँचा तो मध्याह्न हो रहा था। सुहावनी शरद् ऋतु थी, भास्कर की सुनहली किरणें श्रान्त बालाकि के शरीर पर पड़कर शक्ति का संचार कर रही थीं। गंगा की शीतल जल-धारा में नहा कर उसने शरीर की सारी थकान दूर कर ली। उस समय उसके उत्सुक मन में एक विचित्र उल्लास हो रहा था और उसकी तेजस्वी आँखों में योग्य गुरु से परिश्रमपूर्वक प्राप्त की गई विद्या का ओज चमक रहा था। उसने सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्ति पाकर काशि-राज के भवन की ओर प्रस्थान किया।

राजभवन की ओर जाते हुए बीच मार्ग में बालाकि को शिष्यों समेत एक आचार्य दिखाई पड़े जो शास्त्रों का उपदेश कर रहे थे। उसके मन में यह अभिलाषा जाग पड़ी कि सबसे पहिले इन्हीं पण्डितों से शास्त्रार्थ क्यों न किया जाय? विद्या के मद में उन्मत्त बालाकि का पूर्व स्वभाव एकाएक जग गया, वह विचलित हो गया। पर उसी क्षण उसे अपने दयालु गुरु के अन्तिम उपदेश याद आ गये, और वह ठगा-सा थोड़ी देर तक खड़ा रह गया। सामने ही आचार्य का

आश्रम दिखाई पड रहा था। शिष्य मण्डली में से एक शिष्य ने जब देखा कि एक ब्रह्मचारी सामने खड़ा हुआ है तो उसने अपने आचार्य का ध्यान इस ओर खींचते हुए कहा—'गुरुदेव आश्रम के द्वार पर एक वटु खडा हुआ दिखाई पड़ रहा है।'

आचार्य ने कहा—'वत्स! उससे तुम जाकर पूछो कि वह क्या चाहता है? यदि मेरे आश्रम में आना चाहता हो तो उसे सादर लिवा लाओ अन्यथा वह कहीं दूसरे स्थान को जाना चाहता है तो ठीक मार्ग बतला दो। कोई परदेशी होगा।'

शिष्यमण्डली के बीच से उठकर वह चपल छात्र बालाकि के समीप आया और अपनी सहज मुसकान से बोला—'भद्र! आप कहाँ जाना चाहते है? यदि हमारे गुरुदव के समीप चलना चाहते हों तो यहाँ भीतर चले आइये और यदि कहीं दूसरे स्थान को जाना चाहते है तो बताइये मैं आपको क्या सहायता करूँ? हमारे गुरुदेव ने मुझे आपकी सहायता के लिए भेजा है।'

बालाकि उस ब्रह्मचारी को विनम्र वाणी सुनकर मुसकराया। उसका संशय भरा मन कुछ क्षण के लिए हरा-भरा ,बन गया। विनम्र स्वर से वह बोला—'बन्धु! मैं जाना तो चाहता हूँ काशिराज अजातशत्रु के दरबार में, पर आपके दयालु गुरु के दर्शन की कामना भी मुझ में जाग पड़ी है। चलिए और अपने गुरु का दर्शन कराकर मुझे कृतार्थ कीजिए। विद्वानों के दर्शन अमंगल के दूर करनेवाले होते है।'

छात्र मुसकराते हुए बोला—'भद्र! आइये, आपका हम सब स्वागत करते है।'

वाराणसी के आचार्य मुनिवर उपमन्यु के समीप पहुँचकर तेजस्वी बालाकि ने अपना परिचय देते हुए अभिवादन किया और समीप बैठी हुई शिष्मण्डलो की ओर भी शिर झुका कर सम्मान का भाव प्रदर्शित किया। भरद्वाज के इस अभिमानी किन्तु योग्य शिष्य की चर्चा उपमन्यु के आश्रम में बहुत पहले ही पहुँच चुकी थी। गुरु समेत सारी शिष्य-

मण्डली ने उठकर उसका सम्मान किया। उपमन्यु ने उसे छाती से लगाकर अपने आसन पर बिठाने का आग्रह किया, पर विनीत स्वर में लज्जा का भाव दिखाते हुए बालाकि ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—

'मुनिवर्य ! आप हमारे पूज्य गुरुदेव के समवयस्क और सुहृद हैं अतएव मैं भी आपको अपने गुरु का सम्मान अर्पित करता हूँ। अपने भाइयों के साथ ही बैठने में मुझे सन्तोष मिलेगा। यह कह कर वह शिष्यों के आसन पर बैठ गया। उपमन्यु और उनकी शिष्यमण्डली बालाकि के इस विनीत व्यवहार से बहुत ही प्रभावित हुई। सभी अपने-अपने आसन पर बैठ गये। उपमन्यु के आश्रम में उस दिन एक शिष्ट अभ्यागत के आगमन के उपलक्ष्य में अनध्याय कर दिया गया। पर तब भी शिष्य उत्सुक मन और विस्फारित नेत्रों से बालाकि के समीप देर तक बैठे रहे। उससे यहाँ के आगमन का प्रयोजन जानने की सबको बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी।

थोड़ी देर बाद उपमन्यु ने आदर भरे स्वर में पूछा—'भद्र बालाकि ! आपके यहाँ आने से हमारे आश्रम में प्रसन्नता की लहरें उठ रही हैं। अपने शिष्यों समेत मैं आपका स्वागत करता हूँ। मेरे योग्य जो सेवा हो, उसे अविलम्ब बताइये।'

बालाकि कुछ सहमकर बोला—'मुनिवर्य ! मैं काशिराज अजातशत्रु से भेंट करने के लिए यहाँ आया हूं। मैंने अपने पूज्य गुरुदेव के समीप से अध्ययन समाप्त कर लिया है। गुरुजी ने अभी थोड़े दिन हुए, मुझे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति प्रदान कर दी है, मैं प्रयाग से अपने घर गया था। घर पर देखा कि हमारे पूज्य पिता तथा माता घोर आर्थिक दुरवस्था में संकट के दिन बिता रहे हैं। काशिराज की विद्वत्ता और दानशीलता की चर्चा मैं बहुत दिनों से सुन रहा था, उपयुक्त अवसर जानकर मैं उन्हीं से भेंट करने के लिए यहाँ आया हूँ। बीच मार्ग में शिष्यमण्डली में विराजमान आपको देखकर कुछ मुझे

सन्देह हुआ और आश्रम के द्वार पर मैं खड़ा था कि आपके शिष्य ने जाकर मुझे आप के दर्शन करने का सौभाग्य दिया।'

उपमन्यु बोले—'भद्र बालाकि ! अब आप यहाँ भोजनादि से निवृत्त हो लें तो मेरे साथ काशिराज के दरबार में चलें। सायंकाल का समय महाराज से मिलने के लिए अनुकूल होता है। उस समय वह राजकाज से अवकाश पाकर विद्वानों के साथ प्रसन्नता से मिलते जुलते हैं।'

बालाकि राजी हो गया। उपमन्यु के भाव भरे आश्रम में उसने बड़ी शान्ति और सन्तोष से भोजनादि किया और सन्ध्या समय उपमन्यु के साथ काशिराज के राजभवन की ओर प्रस्थान किया। उस समय उपमन्यु और बालाकि के साथ आश्रम के दो-तीन योग्य शिष्य भी चल रहे थे।

राजा अजातशत्रु उस समय देश-विदेश के समागत पण्डितों तथा याचकों से घिरा हुआ बीच सभा में बैठा था, जिस समय बालाकि और शिष्यों समेत मुनिवर उपमन्यु के आने की बात उसे बताई गई। आसन से उठकर उसने उपमन्यु की अगवानी की और एक सुन्दर मणि जटित आसन पर मृगचर्म बिछाकर उपमन्यु को बैठाया। बालाकि और दूसरे शिष्य यथोचित आसन पर बैठाए गए। पण्डितों की सारी सभा में एक गम्भीरता छा गई, सब लोग चुपचाप राजा और उपमन्यु की बातें सुनने को उत्सुक हो गए! सभा की नीरवता भंग करते हुए राजा अजातशत्रु ने पूछा—'भगवन् ! आपके साथ आये हुए नवागन्तुक महानुभाव का मैं परिचय जानना चाहता हूँ।'

उपमन्यु ने हाथ से इशारा करते हुए कहा—'राजन् ! यह नवागन्तुक महर्षि भरद्वाज के योग्य शिष्य बालाकि नाम से सुप्रसिद्ध हैं। छहों अंगों समेत वेदों का अध्ययन सम्पन्न कर वह किसी प्रयोजन से आपके यहाँ आए हुए हैं।'

मुनिवर उपमन्यु की आखिरी बात बालाकि को नहीं रुची। वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और धीर-गंभीर स्वर में राजा अजात-

शत्रु की ओर हाथ उठाकर बोला—'काशिराज! मेरे यहाँ आने का प्रयोजन कुछ भी हो पर मैं आपसे शास्त्रीय विषयों पर कुछ विचार-विमर्श करना चाहता हूँ। मैंने सुना है कि आप देश-देशान्तर से आए हुए ब्राह्मण विद्यार्थियों को भी पढ़ाया करते हैं। राजकाज के साथ ब्राह्मण ऋषियों की इस वृत्ति को सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है, मैं जानना चाहता हूँ कि आप उसके पूर्ण अधिकारी हैं भी या नहीं!'

बालाकि की गम्भीर एवं सतेजवाणी सारी राज सभा में तीर की भाँति चुभ कर सब को दुखाने लगी। मुनिवर उपमन्यु तो हैरत में आ गए। बालाकि के विनीत व्यक्तित्व में इस दम्भ की छाया उन्हें मालूम नहीं थी, अन्यथा ऐसे अभिमानी के साथ राजदरबार में आने की स्थिति वह कभी पसन्द न करते। सभा में उपस्थित दूसरे पण्डित जन भी विस्मय विमुग्ध-से बालाकि के रोषपूर्ण मुख की ओर ताकने लगे। राजा अजातशत्रु अपनी सहज मन्द मुसकान से विनीत स्वर में बोले—

'भगवन्! आप जैसे प्रकाण्ड पण्डित से शास्त्रीय विषयों में विचार-विमर्श करने की धृष्टता मैं नहीं करना चाहता; परन्तु यदि आप स्वयं ऐसा चाहते हैं तो मैं कल सन्ध्या समय आपकी यथामति सेवा करूँगा। आज आप बहुत थके से ज्ञात हो रहे हैं, पूर्ण विश्राम लीजिए और शरीर की थकान को दूर कीजिए। शास्त्रीय विषयों का चिन्तन तन-मन के पूर्ण स्वस्थ होने पर ही हो सकता।'

बालाकि को राजा की इस विनत वाणी में कुछ व्यंग्य का आभास मिला। उसका अमर्ष कुछ अधिक प्रदीप्त हो उठा। स्वर को कुछ रूखा और चोटीला बनाते हुए वह बोला—'राजन्! मैं आपसे सेवा लेना नहीं चाहता। मैं दूसरे ब्राह्मण कुमारों की तरह आपसे कुछ सीखने के लिए नहीं आया हूँ, वरन् मैं एकपूर्ण विद्यासम्पन्न ब्रह्मचारी हूँ। अपने पूज्य गुरुदेव की सेवा से मुझे जो कुछ प्राप्त हो चुका है, वही बहुत है। मैं यह स्पष्ट कह देना उचित समझता हूँ कि मैं आपकी सेवा नहीं आपकी शास्त्रीय परीक्षा लेना चाहता हूँ। मैं यह भी चाहता कि ब्राह्मण

समाज में आपकी विद्या एवं ब्रह्मज्ञान का जो भ्रम फैला है, उसे सदा के लिए दूर कर दूँ। भला ब्राह्मणों के रहते क्षत्रिय आदि दूसरे वर्णों को ब्रह्मज्ञान या विद्यादान देने का अधिकार कैसे हो गया ? राज काज में सर्वदा व्यस्त रहने वाले लोक वृत्ति परायण क्षत्रिय को वीतराग ब्राह्मणों को उपदेश देने का क्या अधिकार है।'

राजा चुप था। सारी पण्डितमण्डली चित्र लिखी-सी बैठी थी, किसी में बालाकि के प्रबुद्ध पाण्डित्य मद को खर्व करने की हिम्मत नहीं थी। थोड़ी देर के बाद मुनिवर उपमन्यु ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा—'भद्र बालाकि ! इन तीखे शब्दों से महाराज का अपमान करने में आपको क्या लाभ होगा ? कल सायंकाल हो जो कुछ होगा, कहिएगा। छिपी हुई अग्नि की अवमानना करने वाले साधारण जन होते हैं ! पण्डितजन बिना जानी हुई वस्तु के बारे में अपनी धारणा नहीं बना लेते। विद्या और योग्यता कभी क्षत्रिय और ब्राह्मण का विचार करने नहीं जाती।'

H83.1 | T830

बालाकि के अभिमान में कुछ ठेस-सी लगी, उसे एक ब्राह्मण से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। वह अधिक विचलित हो गया। इतने दिनों तक गुरु की आज्ञा से दबी हुई उसकी अभिमानी प्रकृति अपने नग्न रूप में पुनः उठ खड़ी हुई। वह अतिशय क्षोभ भरे स्वर में बोला—'मुनिवर्य ! मुझे मालूम होता है कि क्षत्रिय राजा के धान्य को खाते-खाते आपकी भी बुद्धि कुछ विकृत हो उठी है। विद्या और योग्यता ब्राह्मणों की दासी है और दूसरे वर्णवालों को दवा है। मैं जान बूझ कर उस अग्नि की अवमानना करता हूं, जिसकी चमक से आप की आंखों में चकाचौंध हो रही है।'

P.GH 3155

बात को आगे बढ़ते देख राजा अजातशत्रु बीच ही में हाथ जोड़ कर उठ खड़ा हुआ और बोला—'ऋषिकुमार ! मैं पूज्य ब्राह्मण के चरणों की धूल बनने की कामना करता हूँ, उनको अपना शिष्य बनाने की इच्छा मुझमें स्वप्न में भी नहीं हो रही है। आप शान्त हों, और मुझसे

जो कुछ अपराध हुआ हो उसके लिए क्षमा करें। आज आप बहुत श्रान्त दिख रहे हैं। मुझ से यह अपराध हुआ जो बिना कुछ स्वागत-सत्कार किए इस तरह की व्यर्थ वितण्डा का कारण बना।'

बालाकि से ऐसा कह कर उसने अपने प्रतिहारी से कहा—'प्रतिहारिन! जा, पुरोहित को बुलाकर ऋषिकुमार के स्नान भोजनादि का प्रबन्ध करने की प्रार्थना कर। मैं आज की सभा विसर्जित करता हूँ; और समागत सभ्यों से सविनय प्रार्थना करता हूँ कि वह अगले तीन-चार दिनों तक यहाँ आने का कष्ट न करें। मनीषी ऋषिकुमार के समादर के लिए मैं जब फिर सभा बुलाने की घोषणा करूँगा तब सब लोग उपस्थित होंगे।'

प्रतिहारी शिर झुकाकर चला गया और सारी सभा राजा के साथ उठ खड़ी हुई। मुनिवर उपमन्यु अपने शिष्यों के साथ आश्रम की ओर प्रस्थित हुए और दूसरे पण्डित तथा याचकजन अपने-अपने निवास की ओर। राजा अजातशत्रु ने क्षुब्ध बालाकि के समीप आकर कहा—'भगवन्! मुझसे यह महान् अपराध हुआ, जो आपके समान मनस्वी ऋषिकुमार के स्वागत-समादर में चूक गया। आप चलें, आज मेरे अतिथिशाला को अपने चरणरज से पवित्र करें, कल सायंकाल मैं स्वयं आपकी सेवा में वहाँ पहुँच जाऊँगा।'

× × ×

दूसरे दिन सन्ध्या समय राजा अजातशत्रु अपने पुरोहित के साथ अतिथिशाला में पहुँचा. उस समय बालाकि उदास मन से बैठा हुआ कुछ सोच रहा था। पुरोहित के साथ राजा को आता देख वह सजग होकर अपने को सभालने लगा पर उठकर स्वागत समादर करने की बात उसे कतई पसन्द नहीं आई। उसकी इस अशिष्टता से राजा का पुरोहित मन ही मन झल्ला उठा, परन्तु बालाकि का अभिमानी पाण्डित्य जब जाग पड़ा था तो उसे अपने इस काम में अशिष्टता की गन्ध कैसे मिलती। अभिमान हमारी आँखों में एक ऐसा रंगीन परदा डाल

देता है कि हम उस समय अनुचित को भी उचित देखने लगते है। राजा अजातशत्रु ने समीप पहुँच कर बालाकि को सादर अभिवादन करते हुए कहा—'मुनिकुमार ! यहाँ रहते हुए आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?'

बालाकि गम्भीर स्वर मे अकड़ जमाता हुआ बोला—'राजन् ! एक मुनिकुमार से कष्ट के बारे में आप का पूछना ही अनुचित है। उसका सारा जीवन ही साधना और तपस्या के लिए है। उसे सांसारिक कष्टों की चिन्ता क्यों होने लगी ? अच्छा हुआ आप आ गए, मैं यहाँ बैठे-बैठे ऊब रहा था।'

राजा ने अपने सहज मधुर स्वर मे हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन् ! मेरे लिए क्या आज्ञा है ? आप की सेवा के लिए ही मै यहाँ स्वयं उपस्थित हुआ हूँ।'

बालाकि ने कहा—'राजन् मै अपना अभिप्राय आपसे कल ही बतला चुका हूँ। इतनी शीघ्रता मे बातो को भूल जाने वाला राजा इतने बड़े राज्य का शासन कैसे करेगा ? अस्तु, मुझे आपकी किसी सेवा की आवश्यकता नही है, मै आपकी ब्रह्म-विद्या की परीक्षा लेना चाहता हूँ।'

राजा अजातशत्रु ने देखा कि मुनिकुमार का अभिमान अपनी पूर्णता को पहुंच रहा है, अब इससे आगे नम्रता दिखाने का अर्थ होगा अन्याय। वह कुछ देर तक मौन बना रहा, फिर एक आसन पर बैठ कर उसने पुरोहित को बाहर जाने का संकेत किया। राजा का पुरोहित बालाकि की इन उद्दण्ड बातो मे भर उठा था। अमर्ष मे भरा हुआ वह अतिथिशाला से बाहर चला गया। अब राजा और बालाकि के सिवा वहाँ कोई तीसरा व्यक्ति नहीं था। उचित अवसर देख राजा ने कुछ गम्भीर किन्तु मधुर स्वर में पूछा—'मुनिकुमार ! मैं आपकी आज्ञा मानने को तैयार हो गया हूँ। अब आप मुझसे जो कुछ चाहे, पूछ सकते हैं !'

बालाकि बोला—'राजन् ! मैं आपसे उस ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप सुनना चाहता हूँ जो मुझ में है और आप में है। यह किस प्रकार हमारे शरीर में विविध प्रकार के सुखों एवं दुःखों का अनुभव करता है और किस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त रहता है। हमारे शरीर के भीतर अवस्थित होकर जो सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करने की प्रेरणा देता है, उसका फल-भोग करता है, वही सूर्य चन्द्रमा आदि में अवस्थित होकर किस प्रकार प्रकाश का कारण बनता है। मैं आप से यही जानना चाहता हूँ।'

राजा अजातशत्रु ने देखा कि मुनिकुमार के मन में ब्रह्म के प्रति अभी कितना अज्ञान भरा हुआ है कि वह शरीरस्थ जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता मान रहा है। अभी इसकी धारणा सोपाधि ब्रह्म ही तक है, उस निरुपाधि ब्रह्म के निर्मल प्रकाश की किरण इसके हृदयाकाश में प्रस्फुटित नहीं हुई है। यही कारण है कि इसमे इतनी अभिमान की मात्रा शेष है। थोड़ी देर तक चुप बने रहने के बाद मुसकराते हुए वह बोला—'मुनिकुमार ! मेरे मत में तो यह जीवात्मा कर्त्ता और भोक्ता की उपाधि से ऊपर है। मै आपकी बातों को ठीक तौर पर पकड़ नही पा रहा हूँ, कृपया उन्हे स्पष्टकर बताने की कृपा करें।'

बालाकि ने सोचा, अभी तक जीवात्मा के बारे में मैंने किसी से यह नहीं सुना था कि वह कर्त्ता और भोक्ता की उपाधि से ऊपर है। राजा मुझे छलना चाहता है, मै ऐसा हर्गिज नही होने दूँगा। वह किंचित् कठोर स्वर में बोला—'राजन् ! एक ब्रह्मज्ञानी की तरह मुझसे बातें कीजिए ! क्या आपको यह भी नहीं मालूम है कि हमारे शरीर में विद्यमान् जो यह आत्मा है, वही संसार के समस्त कार्यकलापों का कर्त्ता एवं उनके फलाफल का भोक्ता है। इस अस्त होने वाले सूर्य में भी वही आत्मा भासमान् है। यह सूर्य ही वास्तव में हमारी आँखों के समस्त कार्यों का सम्पादन करने वाला है, ऐसा समझो कि यही आँख इन्द्रिय के रूप में हमारे शरीर में अवस्थित है। बाह्य जगत् में इसको

स्थिति आधिदैविक रूप में है और हमारे शरीर मे इसकी स्थिति आध्यात्मिक रूप में है। क्या आपको यह भी विदित नही है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड मे है!'

राजा ने बालाकि की बातो से यह अच्छी तरह जान लिया कि ब्राह्मणकुमार को अभी अच्छी तरह ब्रह्मज्ञान का पूर्ण अनुभव नहीं प्राप्त हुआ है। वह ब्रह्म को उपाधिविशिष्ट बतला रहा है। सब उपाधियो से विहीन अद्वैत ब्रह्म का पूरा ज्ञान उसे प्राप्त नही हुआ है, यह झूठ-मूठ मे वितण्डा बढ़ा रहा है। अतः कुछ गम्भीर स्वर में दाहिने हाथ को उठाकर कहा—'मुनिकुमार! आप जिस ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे है उसे मै जानता हूँ। आपका आशय यह है कि इस कार्य कारण के सघात स्वरूप शरीर में अवस्थित आत्मा ही समस्त कर्मजालो को बुननेवाला और उसका फल भाग करने वाला है। यही न!

बालाकि ने रूक्ष स्वर में कहा—'हाँ, मेरा यही तात्पर्य है।'

राजा अजातशत्रु ने विनत भाव से कहा—'किन्तु मुनिकुमार! केवल इसी रूप मे ब्रह्म का स्वरूप जान लेना यथेष्ट नही है, आप यदि किसी और दूसरे रूप म उस ब्रह्म को जानते हो तो मुझे बताइये, तब आप के प्रश्न का समुचित उत्तर मै दे सकूँगा, क्योकि मै देख रहा हूँ कि आप अभी ब्रह्म के पूर्णज्ञान की बातें नहीं बतला रहे है।

बालाकि राजा की स्पष्ट बातों से भीतर-भीतर कुछ हताश-सा हो गया, उसे अपनी अल्पज्ञता का थोड़ा-सा आभास जीवन में पहिली बार अनुभव हुआ। कुछ कृत्रिम गम्भीर स्वर में वह बोला—'राजन्! जो शक्ति इस प्रत्यक्ष चन्द्रमा में वर्तमान है, जिसे हम चन्द्रमा के इस गोले आकार मे परिणत देखते है वही शरीर मे मन का आकार धारण करके समस्त कर्मो का कर्त्ता और उनके फलाफल का भोक्ता है। अब तो आप मेरा आशय समझ गए हैं न!'

राजा ने कहा—'मुनिकुमार! यह आकाश मे अवस्थित चन्द्रमा

द्रव्यात्मक है, इसमें जलीय तत्व की प्रधानता है, वही इसके मनोज्ञ आच्छादन का काम करता है। इसीलिए हम इसे 'पाण्डवासा' अर्थात् शुभ्र पीले वस्त्र से शोभायमान भी कहते हैं। किन्तु मन में भी क्या ऐसा कोई रूप है ?'

बालाकि अपने दृढ़ ब्रह्मज्ञान से कुछ विकम्पित-सा होने लगा, किन्तु फिर उसी क्षण सँभला, और उसी पुरानी बात की उलट-पुलट करते हुये बोला—'राजन् ! जिस पुरुष को आप बादलों में चमकने वाली विद्युत् में अवस्थित देखते है वही हृदय में भी विद्यमान है। इन दोनो आत्माओं में सर्वथा अभिन्नता है। क्या आप एक मान कर इनकी उपासना नहीं करते। यही नहीं, बाहर या ऊपर आकाश में व्याप्त जो पुरुष है, वही इस शरीर में हृदयाकाश रूप में वर्तमान है। बाहर वायु के रूप में अवस्थित पुरुष ही शरीरस्थ प्राणों के रूप मे कर्ता और भोक्ता की उपाधि से विभूषित है। बाहर जिसे आप अग्नि रूप मे देखते हैं वही इस शरीर में ज्ञानरूप अग्नि है। राजन् ! इसी प्रकार बाहरी जगत मे जल रूप में जिसे देखते हो वही शरीर में शुक्र रूप में अवस्थित है। बाहरी जगत का गाढ अंधकार शरीर मे सर्वत्र विद्यमान अज्ञानान्धकार के रूप में विराजमान रहता है। यह एक ही आत्मा बाहर और भीतर दो प्रकार का स्वरूप धारण किए हुए है। हे राजन् ! बाहर इन्हे आधिदैविक पदार्थ के रूप में लोग जानते है किन्तु शरीर के भीतर इनकी अवस्थिति आध्यात्मिक इन्द्रिय आदि के रूप मे है, यही अन्तर है। किन्तु दोनों स्थानों में एक ही शक्ति काम करती है, वही आत्मा है और वही पुरुष भी कहा जाता है। वही पुरुष ही शरीर में इन्द्रिय आदि की क्रियाओं का करने वाला तथा उनके फलाफल का भोग करनेवाला है। हे राजन् ! आपको इसी विचार मे आत्मा की उपासना करनी चाहिए।'

मुनिकुमार बालाकि की बातें सुनकर राजा अजातशत्रु उसकी अल्पज्ञता पर मन ही मन हँसने लगा और फिर थोड़ी देर तक चुप

रहने के बाद बोला—'मुनिकुमार ! मैं जानता हूँ कि क्या आपका ब्रह्मज्ञान केवल इतना ही है ? या इसके सिवा ब्रह्म के विषय में और कुछ जानकारी आप को है। यदि आपके ज्ञान की इतिश्री यहीं है, तो इसे सुनने या जानने अथवा ऐसे भ्रान्त ज्ञान का उत्तर देने की इच्छा मुझमें नहीं है। यह विचार आप स्वप्न में भी न करें कि इस प्रकार का अभेद-ज्ञान हो जाना ही यथेष्ट ब्रह्मज्ञान है या पूर्णब्रह्मज्ञान है। मैं मानता हूँ कि यह भी एक प्रकार का ब्रह्मज्ञान है, किन्तु यह निकृष्ट-कोटि का ब्रह्मज्ञान है, इसे पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं कह सकते। आप अब तक बड़े भ्रम में थे, मेरे इस वचन से आपको जो कष्ट पहुँचा हो, उसके लिए एक क्षत्रिय और राजा होने के नाते आप से मैं क्षमा की याचना कर रहा हूँ, इतना कहने के लिए मैं विवश कर दिया गया था पर वस्तुस्थिति यही है।'

राजा अजातशत्रु की इस मर्म-वाणी से बालाकि का विद्या-मद कुछ खर्व हो चला। उसके भीतरी नेत्र खुल गये और हृदय में कुछ सिहरन-सी मालूम हुई। लज्जा और ग्लानि से विकम्पित होकर उसने अपने मन में सोचा कि मैं कितने पानी में था। निश्चय ही ब्रह्म के बारे में मेरी ये मान्यताएँ अपूर्ण है। मेरे गुरुदेव भी ब्रह्म को निरुपाधि और सर्वातीत मानते थे पर मैंने कभी ध्यान से उनकी बातें समझने की कोशिश नहीं की। मैंने राजा का बड़ा अपमान किया जो इस तरह के क्षुद्रभाव से उसके साथ पेश आया। इसका ज्ञान कितना गहरा और कितना महान् है। इस प्रकार थोड़ी देर तक विचार कर लेने के बाद वह विनम्र स्वर में बोला—

'राजन् ! मैंने आपका जो अपमान किया है, उसके लिए बहुत दुःखी हूँ। निश्चय ही आप ब्रह्म के पूर्ण ज्ञाता और हम जैसे लोगों के शिक्षक होने की योग्यता रखते है। आपके बारे में मैंने अभी तक जो कुछ सुना था सब सत्य है, अब मैं ब्रह्म के उस निरुपाधि ज्ञान को विस्तारपूर्वक जानने की इच्छा करता हूँ।'

राजा अजातशत्रु ने मुसकराकर मधुर स्वर में कहा—'मुनि कुमार ! मैं एक क्षत्रिय होकर आपके समान विद्या-बुद्धि सम्पन्न ब्राह्मण कुमार को शिक्षा किस प्रकार दे सकता हूँ। मुझे दोषभागी मत बनाइये। आप के पूज्य गुरुदेव मुनिवर भरद्वाज ब्रह्म के पूर्णज्ञाता हैं, आप उन्हीं के पास जाइये, वह आप को ब्रह्मविद्या की पूर्ण शिक्षा देंगे। आप लज्जित न हों और न ग्लानि का ही अनुभव करें, यह उम्र ही ऐसी है, जिसमें कुछ प्रमाद हो जाना स्वाभाविक है।'

राजा की बातें बालाकि यद्यपि बाहर से ध्यानपूर्वक सुन रहा था, परन्तु उसका मन अपने गुरुदेव के अगाध पाण्डित्य और अपने क्षुद्र अभिमान पर था। वह सोच रहा था कि इतने दिनों तक ऐसे सर्वज्ञ गुरु के आश्रम में रहकर भी मैं दुर्भाग्यवश अपने अभिमान के कारण रिक्त का रिक्त ही बना रहा। थोड़ी देर बाद वह विनीत स्वर में फिर बोला—'राजन् ! मैं अब गुरुदेव के पास इस रूप में नहीं जाऊँगा, आप ही मुझे पूर्ण ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें, इसके अनन्तर मैं गुरु के समीप जाऊँगा। आप जानते हैं, जिन साथियों को छोड़कर मैं गुरु के आश्रम से दीक्षा लेकर निकल आया, उनके पास जाने में कितनी लोकनिन्दा होगी, जब कि मेरी विद्या और बुद्धि के बारे में वहाँ लोगों के विचार बहुत अच्छे थे। निश्चय ही यह सब मेरे अभिमान का प्रायश्चित्त होगा। आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी और आज ही आपको ब्रह्म के निरुपाधि स्वरूप का उपदेश मुझे करना पड़ेगा, यही मेरी सच्ची सेवा होगी। आप के आतिथ्य-धर्म-पालन का इससे बढकर कोई दूसरा उदाहरण न होगा।'

राजा अजातशत्रु को बालाकि की महती कठिनाई का यथार्थ बोध हो गया। थोड़ी देर तक शिर झुकाकर चुप रहने के बाद वह बोले—'मुनिकुमार ! आप जैसे अतिथि की सेवा करना मेरा परम धर्म है। यथामति आप को ब्रह्म के निरुपाधि स्वरूप का परिचय

कराने की चेष्टा करूँगा। आप अपने मन में कुछ भी अनुताप न करें।

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल बहुत सबेरे ही राजा अजातशत्रु मुनिकुमार बालाकि को साथ लेकर राजभवन से बाहर निकला। अभी अरुणोदय हो ही रहा था, आकाश में कुछ प्रकाशपुंजों की क्षीण छटा अपनी अन्तिम शक्ति का परिचय दे रही थी। पूर्व का क्षितिज लाल वर्ण का होगया था, पक्षी अपने-अपने घोंसलों में बैठे-बैठे दिन भर का कार्यक्रम निश्चय कर रहे थे। राजपथ में शीतल मंद सुगन्ध पवन के झकोरे बालाकि समेत राजा के स्वागत का गान कर रहे थे। आगे-आगे राजा अजातशत्रु और पीछे-पीछे बालाकि वीथिका पर बढ़ते हुए राजभवन के कुछ बाहर निकल गए।

इस प्रकार कुछ दूर चले जाने के बाद राजा ने चारपाई पर प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न श्वेत चादर ओढ़े एक राजपुरुष को देखा, जो राज-भवन की चौकसी करनेवालों का उपप्रधान था और जिसका नाम था कारायण। वहाँ चारों ओर कुछ दूर तक सुनसान था, बहुत दूर पर कुछ दूसरे सिपाही भी अभी तक सो रहे थे। राजा ने चारपाई के पास खड़े होकर धीरे से बालाकि को अपने पास बुलाया और चुप चाप खड़े रहने का संकेत किया। थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद राजा ने उसी सुषुप्त राजपुरुष की ओर लक्ष्य करके पुकारा—'ओ पाण्डवत्रासा पुरुष, ओ चन्द्रमा, सोम, ओ विद्युत्! उठो। अरे उठो भाई चन्द्र! सबेरा हो गया।' राजा के इस प्रकार पुकारने पर भी वह सुषुप्त राजपुरुष उसी तरह खर्राटे लेता रहा, तनिक-सा स्पन्दन भी उसके शरीर में नहीं हुआ। इसी प्रकार थोड़ी देर बाद राजा ने उसे फिर बुलाना शुरू किया: परन्तु रात भर राजभवन के चारों ओर घूमनेवाले राजपुरुष कारायण की सुख-निद्रा इस तरह चन्द्रमा वा विद्युत् कहने से क्यों टूटती? वह उसी तरह श्वेत चादर के नीचे सोया पड़ा रहा। उसकी साँसों के क्रम में तनिक भी अन्तर नहीं हुआ।

तब राजा ने बालाकि की ओर निहार कर उस राजपुरुष के हाथ को पकड़कर उठाते हुए कहा—'कारायण ! ओ कारायण ! उठो, सबेरा हुआ।'

राजा की आवाज सुनकर कारायण भयभीत मुद्रा में चारपाई से उठ कर खड़ा हो गया और विकम्पित स्वर में बोला—'महाराज ! महा-राज ! सेवक का अपराध क्षमा किया जाय। आज मुझे उठने में बहुत देर होगई महाराज !'

राजा ने हँसते हुए मीठे स्वर में कहा—'कारायण ! तेरी निद्रा भङ्ग करके मैंने आज पाप किया, तू सो, मैं जा रहा हूँ, कोई काम नहीं था यों ही परिहास में तुझे जगा दिया था, लो मैं जा रहा हूँ।'

राजा और बालाकि विस्मित राजपुरुष कारायण को छोड़कर आगे बढ़ गए। कारायण राजा के इस परिहास को कुछ भी समझ नहीं सका। भौंचक्का-सा तन्द्रा की गोद में अनमना होकर वह उसी तरह देर तक खड़ा रहा और फिर निपट सबेरा जानकर अपने नित्य कर्मों में लिपट गया।

उधर बालाकि को साथ लेकर राजा अपने उद्यान के भीतर प्रविष्ट हुआ, जिसमें रंग-विरगे फूलों पर प्रभात की कोमल किरणों से प्रवुद्ध अलिवृन्द अपनी अँगड़ाइयाँ तोड़ रहे थे। एक स्फटिक शिलापट्ट पर बैठकर राजा ने अपनी बगल में बालाकि को खींचकर बैठा लिया और कहा—'मुनिकुमार ! उस राजपुरुष के इस तरह जगाने का तत्पर्य आपने समझा ही होगा।'

बालाकि ने विनम्र स्वर में कहा—'राजन् ! मैं आपही के मुख से उसका तात्पर्य सुनना चाहता हूँ। यों तो मैं यह समझ रहा हूँ कि आपने इस उदाहरण से मेरे ब्रह्मज्ञान की अपूर्णता सिद्ध की है।'

राजा ने कहा—'हाँ मुनिकुमार ! आप ठीक समझ रहे हैं। उसका विस्तृत आशय मैं आपको बतला रहाहूँ, ध्यानपूर्वक सुनें। आपने मुझे कल बताया था कि जो पुरुष बाह्य जगत् में चन्द्रमा रूप से विराज-

मान है वही मुख्य शरीर में मन रूप से अवस्थित है। मैंने आपको बताया था कि चन्द्रमा द्रव्यगुणात्मक है, उसमें जलीय तत्व की प्रधानता है, जल ही चन्द्रमा के शुभ्र वस्त्र वा परिधान रूप से कल्पित होता है, उसका नाम इसी से पाण्डववासा अर्थात् शुभ्र पीले वस्त्र वाला है। आपके कथनानुसार यदि शरीरस्थ आत्मा को केवल विषय भोक्ता या फल भोक्ता माना जाय तो विषय के उपस्थित होते ही तत्काल आत्मा उसका उप-भोग करेगी। मैंने पाण्डववासा, चन्द्रमा वा चन्द्र नाम से उस पुरुष की आत्मा को बुलाया पर वह नहीं उठा। यह संज्ञाएँ तो नाम है न। और नाम वा शब्द कान इन्द्रिय के विषय हैं। यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि इन्द्रिय के विषयों के भोग ही आत्मा के स्वरूप माने जायँ तो उन शब्दों द्वारा बुलाने पर राजपुरुष को तुरन्त ही जाग जाना चाहिए था: पर ऐसा नहीं हुआ। इसलिए उस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय के उपस्थित होने पर भी जब उसमें आत्मा का भोग नहीं होता, तब यह निश्चय रूप स मानना पड़ेगा कि भोक्ता रूप के अतिरिक्त भी आत्मा का कोई स्वरूप है।

बालाकि ने कहा—'राजन्! इस विषय को तनिक और स्पष्ट कर दीजिए।'

राजा ने कहा—'मुनिकुमार! यों समझिए कि कोई पदार्थ अपने सहज स्वभाव को कभी छोड़ नहीं सकता। अग्नि का स्वभाव यह है कि तृण को पाते ही वह भस्म कर देगा इसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं हो सकता, इतना तो आप समझ गए हैं न। अब आगे सुनिए। यदि आपके कथनानुसार आत्मा का स्वरूप कर्मों का फलभोक्ता या विषय-भोक्ता मान लिया जाय तो शब्द, स्पर्श आदि के आते ही उसका भोग वह अवश्य करेगा, परन्तु नाम लेकर कई बार पुकारने पर भी वह राजपुरुष नहीं जाग सका। इससे यह स्पष्ट होगया कि विषय-भोग के अतिरिक्त भी आत्मा का कोई स्वरूप है, केवल विषय भोग ही नहीं। इस प्रकार वह निरुपाधि सिद्ध होता है। प्रगाढ़ निद्रा के समय वह आत्मा

इन्द्रियादि के विषयों को छोड़कर हृदयाकाश में लीन रहता है, यही उसका यथार्थ स्वरूप है। अन्तःकरण आदि का सम्बन्ध भी उसी शक्ति बीज में विलीन हो जाता है, यही उसकी निरुपाधि स्वरूप अवस्था है। मुनिकुमार ! सभी इन्द्रियाँ उस प्रगाढ़ निद्रा की अवस्थामें प्राणों में विलीन होती हैं। उस समय उनके विषयों में अभिमान या आत्मा के साथ मन का संयोग भी नहीं रहता। वह आत्मा शरीर, प्राणों तथा इन्द्रियों-सभी से अतीत है। यही प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति की अवस्था ही आत्मा की अव्याकृत अवस्था या स्वरूप है।'

बालाकि ने विनम्र भाव से कहा—'राजन् ! मैं उस सुषुप्ति अवस्था की पूरी जानकरी प्राप्त करना चाहता हूँ, कृपया इस विषय को भी मुझे बता दीजिए।'

राजा अजातशत्रु ने कहा—'मुनिकुमार ! हृदय के मेरुदण्ड से निकल कर बहत्तर हजार नाड़ियाँ पीपल के पत्ते की शिराओं की भाँति शरीर के चारों ओर फैली हुई हैं। जाग्रत अवस्था में चालाक बुद्धि समस्त इन्द्रिय शक्तियों को उक्त सभी शिराओं के मार्ग से इन्द्रियों के विशेष विशेष स्थानों में फैला देती है। विज्ञानमय आत्मा इन सब शक्तियों के संसर्ग में आप भी प्रकाशित होता है। इसी का नाम जाग्रत अवस्था है। इस प्रकार आत्मा जाग्रत अवस्था में विषयेन्द्रिय संयोग से बुद्धि को विकसित करता और जब इन्द्रिय शक्तियाँ उक्त शिराओं के सहारे हृदय में जाकर एकदम संकुचित या संहृत हो जाती है तब साथ ही आत्मा भी प्रतिसंहृत हो जाता है। यही जीव की स्वप्नावस्था है। उस समय बुद्धि की संस्कार राशि आत्म चैतन्य में जाकर प्रतिफलित होती है। सुषुप्ति काल में यह बुद्धि भी प्राणों में विलीन हो जाती है। इसी कारणवश उस समय देहस्थ इन्द्रियाँ सभी बेसुध हो जाती हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ एकदम जब सभी क्रियाओं का अभाव हो जाता है और चैतन्य आत्मा में किसी पदार्थ का कोई सम्पर्क नहीं रह जाता, तब किसी भी विज्ञान वा क्रिया

का दर्शन नहीं होता। वही पूर्ण आनन्द की अवस्था है, इसे ही हम आत्मा का स्वरूप मानते हैं। जैसे मकरी आप ही अपने जाले को बाहर निकालती है, जैसे अग्नि से हजारों चिनगारियाँ आप ही बाहर निकलतीं हैं, वैसे ही एक चैतन्य शक्ति से आप ही सब लोक, सब इन्द्रियाँ और सब पदार्थ बाहर होते हैं और स्थिति काल में उसी का आश्रय लेते हैं।'

राजा का उपदेश सुनकर ब्राह्मण कुमार बालाकि का सन्देह दूर हो गया। कृतज्ञतावश उसकी आँखों से आँसुओं की धारा वह निकली। इतने दिनों तक कुसंस्कारों से जमे हुए अभिमान एवं अज्ञान के बादल उसके हृदयाकाश से फट गए, उसकी प्रखर बुद्धि एवं योग्य गुरु द्वारा परिश्रम से प्राप्त की गई विद्या में वास्तविक ओज आ गया। उसके प्रदीप्त मुखमण्डल पर ब्रह्मतेज की सच्ची चमक आ गई।

दूसरे दिन राजा अजातशत्रु ने प्रचुर धन सम्पत्ति द्वारा सम्मानित कर राजधानी से बालाकि को विदा किया। इस प्रकार पूर्वकाल में मुनिवर भरद्वाज और राजर्षि अजातशत्रु की कृपा से ब्राह्मण कुमार बालाकि की सभी व्याधियाँ दूर हुई थीं।

महाशाल शौनक और अंगिरा

पांचाल प्रदेश के त्रिगर्त नामक जनपद में एक शुनक नाम का बहुत विद्वान् और कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहता था। उसकी विद्वत्ता और कर्मनिष्ठा के साथ-साथ उसकी धन-सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा भी भरपूर थी। उसके रहने का सुन्दर भवन एक राजमहल की तरह धनधान्य से पूर्ण और कला-कारीगरी का अच्छा आदर्श था। उसकी समानता करनेवाले भवन पूरे त्रिगंत जनपद में बहुत कम थे। उसके समीप रहकर विद्याध्ययन करनेवाले शिष्यों की संख्या बहुत बड़ी थी। इतना ही नहीं अपने उसी सुन्दर और शानदार भवन तथा विद्यार्थियों की संख्या अधिक होने के कारण वह शुनक महाशाल के नाम से भी विख्यात था उसकी भरी-पूरी गृहस्थी और शिष्यों की चर्चा प्रायः पूरे पांचाल प्रदेश में होती थी। शुनक जितना विद्वान्, कर्मनिष्ठ और धनाढ्य था उतना ही दयालु और परोपकारी भी था। दीन-दु:खियों की सहायता करने में वह कभी नहीं चूकता था। अतिथि-अभ्यागतों के स्वागत के लिए उसका द्वार सदा खुला रहता था। उसने कभी भूलकर भी किसी का जी नहीं दुखाया, जो जिस प्रयोजन को लेकर आता सबको वह भरसक सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता। यही कारण था कि उसके ऊपर भगवान् की असीम कृपा थी। स्त्री,पुत्र, पुत्री, परिजन, पुरजन सब शुनक के आज्ञाकारी थे। इस प्रकार उसकी आदर्श गृहस्थी उस समय के लोगों की चर्चा का मुख्य विषय बन गई थी। लोग उठते बैठते सोते अक्सर यह चर्चा करते सुने जाते कि भाई! गृहस्थी हो तो महाशाल की तरह! उसे कभी किसी वस्तु का खटका नहीं था।

उसी महाशाल शुनक के ज्येष्ठ पुत्र का नाम था शौनक। शौनक

ने अपने ब्रह्मचर्य जीवन में समस्त नियमों का पालन करते हुए समस्त विद्याओं का अध्ययन किया था। उसके सहपाठी उसकी प्रखर बुद्धि और अनुपम परिश्रमशीलता का लोहा मानते थे। अपने छात्र-जीवन में न केवल उसने अपने गुरु और गुरुपत्नी की सेवा की थी वरन् अपनी सहृदयता और सेवा-भावना के कारण समस्त आश्रम-वासी सहपाठियों का भी स्नेहमय बन्धुत्व प्राप्त किया था। शान्तिमय ब्रह्मचर्य जीवन समाप्त कर शौनक ने जिस समय अपने गुरु के आश्रम से सुखमय गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए अन्तिम दीक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त किया उस समय उसके सामने दो महान् लक्ष्य थे। एक था श्रेय का और दूसरा था प्रेय का। निश्चय ही उस जैसे भाग्यशाली युवक के सामने दोनों लक्ष्य अपनी अनुकूल स्थिति में उपस्थित थे। पिता की लम्बी चौड़ी गृहस्थी, प्रचुर सम्मान, लोकोपकार के विस्तृत क्षेत्र के साथ -साथ उसका सर्वसाधन सम्पन्न सुख भोग की उद्दाम लालसा से समन्वित गृहस्थाश्रम धर्म उसे एक ओर खींच रहा था, और दूसरी ओर उसके निश्छल और विशाल हृदय में संसार से विरक्त रहकर आत्म-साधना में सदा निरत रहनेवाले बड़े-बड़े ऋषि मुनियों का आदर्श जीवन बिताने की भी कामना थी। उसने अपने गुरुवर्य से दीक्षान्त समारोह से एक दिन पूर्व पूछा – 'पूज्य गुरुदेव! मेरे लिए अब क्या आज्ञा है? क्या गृहस्थाश्रम धर्म के बिना इस ऐहिक जीवन की कोई दूसरी प्रवृत्ति नहीं है, मैं तो चाहता हूँ निःसंग जीवन बिताना, जिसमें सांसारिक बखेड़ों से शान्ति मिलती है।'

गुरु ने शौनक की बात ध्यान से सुनी। अभी तक उनके किसी शिष्य ने सांसारिक कामनाओं को इस तरह इनकार नहीं किया था! कुछ देर तक विचार कर गम्भीर स्वर में वह बोले—'वत्स! गृहस्थाश्रम धर्म के बिना हमारे ऐहिक-जीवन की प्रवृत्ति है क्यों नहीं, पर उसमें अशान्ति की बड़ी सम्भावना रहती है। गृहस्थाश्रम द्वारा जीवन-

धारा को बदलने की पर्याप्त सुविधा रहती है। यह कभी पतन का साधन नहीं बनता, इसके द्वारा सर्वथा उठने की सुविधा रहती है। दूसरी प्रवृत्तियों में उठने की कोई सुविधा नहीं रहती। केवल ज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है, जो अन्त में फिसलने वाला भी होता है। गृहस्थाश्रम में भी तुम्हें कोई बन्धन नहीं है, उसमें रहकर भी तुम अपनी साधना का व्रत पूरा कर सकते हो।'

शौनक ने अपने गुरु की आज्ञा शिर पर धारणकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का विचार निश्चित कर लिया और दूसरे दिन समावर्तन संस्कार में दीक्षित होकर गुरु, गुरुपत्नी और अपने प्रिय साथियों से विदा लेकर अपने पिता के पुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

\+ \+ \+

गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर शौनक ने सभी लौकिक सुखों का वर्षों तक उपभोग किया। परन्तु उसकी साधना में कभी बाधा नहीं पड़ी। धीरे-धीरे उसके वृद्ध पिता-माता काल-धर्म को प्राप्त हुए, वह भी पिता बना और पिता होने के साथ ही अपने पिता की समस्त लौकिक प्रतिष्ठाओं का भोक्ता हुआ। यहाँ तक कि लोग उसे भी महाशाल शौनक के नाम से जानने और सुनने लगे। गुरुकुल का ब्रह्मचारी शौनक महाशाल होकर भी बराबर उसी तरह जीवन का तत्त्व ढूंढ़ने में लगा रहा। उसे कभी लौकिक सुख-साधनों में ऐसी आसक्ति नहीं हुई जो उन्हीं को साध्य मान बैठता। प्रतिदिन उसके द्वार पर कोई न कोई अतिथि-अभ्यागत उतरे रहते और वह तन, मन, धन से उनके स्वागत-समादर में लगा रहता।

एक दिन सन्ध्या समय शौनक किसी विचार में डूब हुआ अपने द्वार पर अकेला बैठा था कि सामने से उसे महर्षि अंगिरा आते हुए दिखाई पड़े। महर्षि अंगिरा अपने समय के सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी और वीतराग महात्मा थे। उनको इस तरह अपने द्वार पर उपस्थित

देख शौनक ने अपने भाग्य को सराहा और झट से उनके समीप जाकर दण्डवत् प्रणाम किया। महर्षि अंगिरा ने आशीर्वाद देते हुए शौनक से पूछा—'सौम्य ! इस त्रिगर्त जनपद में एक शुनक नाम का गृहस्थ ब्राह्मण रहता था, उनका निवास गृह कौन सा है ? मैं आज उसी के यहाँ रात बिताना चाहता हूँ।'

शौनक अंगिरा को बहुत दिनों से जानता-पहचानता था। विनीत स्वर में हाथ जोड़कर बोला—'भगवन् ! उन्हीं स्वर्गीय शुनक का मै पुत्र हूँ, यही सामने मेरा घर दिखाई पड़ रहा है, चलकर कृतार्थ करें।'

शुनक को स्वर्गीय सुनकर भी अंगिरा को कोई शोक या विस्मय नहीं हुआ। आगे-आगे चलते हुए वह बोले—'वत्स ! अपने योग्य पिता का पथ कभी न भूलना। काल की गति अबाध है, उसी एक पर दृष्टि रखना, जिसे प्राप्त कर लेने पर कुछ प्राप्त करने लायक नहीं रह जाता और उसी एक तत्त्व को जानने का सदा प्रयत्न करना, जिसे जान लेने पर कुछ दूसरा जानने लायक नहीं रह जाता। तुम्हारा पिता अपनी इस साधना में बराबर निरत रहा, तुम भी लगे रहना।'

शौनक को अंगिरा की ब्रह्मनिष्ठा और उपासना की परिपाटी-दोनों ज्ञात थीं। अपने गुरु के मुख से कई बार वह सुन चुका था कि अंगिरा को वह ब्रह्मविद्या अवगत है, जो लोक पितामह प्रजापति स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा को विदित है। उसके गुरु ने यहाँ तक बताया था कि भगवान् ब्रह्मा ने अपनी उस परम गोपनीय विद्या को केवल अपने सब से बड़े पुत्र अथर्वा को बतलाया था। और अथर्वा ने अपने योग्य शिष्य अंगिरा को उसकी दीक्षा दी थी। अंगिरा ने अपने अनुपम शिष्य भरद्वाज गोत्रीय सत्यवाह नामक ऋषि को समझाया था। उसी सत्यवाह नामक ब्रह्मवेत्ता ऋषि के अनुपम मेधावी और लोकैषणा से सर्वदा विरक्त रहनेवाले शिष्य अंगिरा थे। अंगिरा को छोड़कर इस संसार में किसी दूसरे को वह श्रेष्ठ विद्या मालूम नहीं थी। इसलिए

जब दैवयोग से भटकते हुए अंगिरा को शौनक ने अपने द्वार पर देखा तो यह समझ लिया कि अब मेरी वह चिरकामना पूरी होगी। दैवेच्छा से संभवतः इसीलिए वह आज इधर आ पड़े हैं। इस प्रकार के सात्त्विक भावों के प्रवाह में बहता हुआ शौनक महर्षि के आतिथ्य सत्कार में तन-मन से जुट गया। उसने अपने ही हाथों से उनके चरण धोये और सन्ध्या-पूजनादि के समारम्भ में सहयोग किया। जब तक वह भोज-नादि से निवृत्त होकर सुस्थिर चित्त नहीं बैठ गए, तब तक वह स्वयं उनकी जरूरतों में दौड़ता रहा।

रात्रि में अंगिरा की आज्ञा से स्वयं भोजनादि से निवृत्त होकर शौनक उनके समीप उपस्थित हुआ और कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद विनय भरे स्वर में हाथ जोड़कर बोला—'भगवन्! मेरा अपराध क्षमा किया जाय। मैं एक याचना करना चाहता हूँ, बहुत दिनों से आपकी तलाश में था, आज सौभाग्य से आप स्वयं पधारे है, निश्चय ही मेरी वह चिरवांछा पूरी करने के लिए ही आपका पदार्पण हुआ है।'

अंगिरा कुछ देर तक चुप रहने के बाद बोले—'भद्र! तुम क्या चाहते हो?'

शौनक ने विनीत स्वर में कहा—'महर्षे! सन्ध्या समय आपने जिस एक तत्त्व को जानने की और प्राप्त करने की बात की है, उसी को मैं जानना चाहता हूँ। यही मेरी विनीत प्रार्थना है।'

अंगिरा बड़ी देर तक मौन रहे, फिर गम्भीर स्वर में बोले—'भद्र शौनक! उस एक तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना सरल काम नही है, उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम्हें तैयार होना पडेगा। क्योंकि वही एक ऐसा पदार्थ है; जिसको जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है।'

शौनक धीर गम्भीर स्वर में हाथ जोड़कर बोला—'पूज्य महर्षे! उस परम गोपनीय ज्ञान को प्राप्त करने की साधना में मेरे जीवन के

कितने दिन बीत गए। मै समझता हूँ कि मैंने उसे प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर ली है। आप उस ज्ञान-दान की पात्रता की परीक्षा ले लें।'

अंगिरा जैसे अनुभवी को यह समझने में देर नहीं लगी कि शौनक की ज्ञानपिपासा कितनी सत्य और अपरिहार्य है। ऐसे सच्चे जिज्ञासु को विचलित नहीं किया जा सकता। परन्तु इतनी शीघ्रता से किसी को ऐसे परम गोपनीय ज्ञान का दान करना भी हानिकर होता है। थोड़ी देर तक सोच विचार कर लेने के बाद वह बोले—'भद्र शौनक! तुम्हारे जैसे साधना निरत के लिये ही उस ज्ञान की उपयोगिता है, पर मैं समझता हूँ कि इसके लिए तुम अभी थोड़े दिन तक और प्रतीक्षा करो।'

शौनक से अपनी बेचैनी छिपाई नहीं जा सकी। हाथ जोड़कर वह बोला—'भगवन्! कितने दिनों तक अभी मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी? उसके लिए किस साधना की आवश्यकता है। कृपया आप अवधि और साधना के प्रकार का स्पष्ट निर्देश कीजिए। मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय, उसी परम गोपनीय ज्ञान की प्राप्ति है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।'

अंगिरा बोले—'वत्स! उसके लिए तुम कम से कम एक वर्ष का अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत रखो। और आत्मतत्त्व के निश्चय में लगे रहो। उसके बाद मेरा पता लगाते रहना, वहीं आ जाना। मैं जब देखूँगा कि तुम्हारी साधना पूरी हो चुकी है तब उस ज्ञान का उपदेश तुम्हे करूँगा।'

शौनक मान गया। रात में वह इन्ही विचारों मे उलझा रहा कि आखिरकार इतने दिनों बाद वह अवधि इतने समीप आ ही गई।

सवेरा हुआ, महर्षि अंगिरा ब्रह्म मुहूर्त ही में शौनक को सूचित कर अपनी यात्रा पर आगे बढ़ चले। जाते समय शौनक ने विनीत स्वर में अपनी याचना को पुनः दुहराया। अङ्गिरा ने कहा—'वत्स! मैं तुम्हे नहीं भूलूँगा।'

× + +

धीरे-धीरे एक वर्ष बीत गया। अखण्ड ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए शौनक अपनी साधना में निरत रहा। मन समेत इन्द्रियों को वश में कर वह सन्तोष और शान्ति के समीप पहुँच गया पर उस परमतत्त्व को जानने की इच्छा उसमें उग्र से उग्रतर होती गई, जिसे जानकर संसार में कुछ जानने योग्य अन्य पदार्थ नहीं रह जाता। एक निश्चित दिन से गृहस्थी का भार परिवार के ऊपर छोड़कर वह अंगिरा की खोज में घर से बाहर निकला। अनेक वर्ष गृहस्थाश्रम में सुख पूर्वक बिता लेने के बाद भी उसमें वही बालसुलभ श्रद्धा और निश्छल गुरुभक्ति थी। कंधे पर मृगचर्म और हाथ में पलाश की समिधाओं को लेकर वह विनीत वटुवेश में एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में अंगिरा का पता लगाने लगा। उस समय महर्षि अंगिरा बदरीवन में विराज रहे थे। साधक शौनक उनका पता लगाते हुए वहाँ पहुँच गया। यथाविधि प्रणाम आदि कर वह उनके समीप ही बैठ गया। उस समय अंगिरा कुछ दूसरे मुनियों के साथ किसी शास्त्रीय गुत्थी को सुलझा रहे थे। शास्त्रार्थ से निवृत्त होकर अंगिरा ने शौनक का ऋषियों से परिचय कराया और कुशल-मंगल की बातें पूछीं। शौनक ने संक्षेप मे अपना सारा हाल बतलाया और अपनी एक वर्ष की अवधि बीत जाने का स्मरण दिलाते हुए कहा—'महर्षे! मैं आपके आदेशानुसार आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

अङ्गिरा ने बात का प्रसंग बदलते हुए कहा—'वत्स शौनक! तुम बहुत दूर से आए हुए हो, चलकर विश्राम करो मैं भी अब कुछ विश्राम लूँगा। कल प्रातःकाल नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर हमारी बातें होंगी।'

अङ्गिरा का रुख समझकर वहाँ बैठे हुए ऋषि वृन्द उठ-उठ कर अपने-अपने आश्रम की ओर चले गए। शौनक एक अन्तेवासी के साथ अपने भोजनादि के प्रबन्ध में लग गया। अङ्गिरा वहीं अपने

आसन पर बैठे-बैठे बड़ी देर तक सोचते रहे और फिर उठकर अकेले ही आश्रम में इधर-उधर घूमने लगे।

दूसरे दिन नित्यकर्म से निवृत्त होकर शौनक अंगिरा के समीप गया। उस उमय अंगिरा अकेले ही अपने आसन पर विराजमान थे। शौनक ने यथाविधि प्रणाम कर निवेदन किया—'गुरुदेव अब मेरे लिए क्या आज्ञा है?'

अंगिरा ने कहा—'वत्स! तुम उस परम ज्ञान को जानने के अधिकरी हो गए हो। मैं उस परम गोपनीय विद्या का रहस्य तुम्हें बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो!'

इतना कह कर अंगिरा चुप हो गए और शौनक सावधान मन, निश्चल इन्द्रिय और व्यवस्थित मुद्रा में बैठकर उस परम गोपनीय रहस्य को हृदयङ्गम करने की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर तक चारों ओर सन्नाटा छाया रहा। फिर महर्षि अंगिरा ने चारों ओर एक बार दृष्टि फेर कर धीर गम्भीर स्वर में कहा—'वत्स शौनक! विद्या दो प्रकार की होती है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। जिस विद्या के बल से परमात्मा के स्वरूप के विषय में अथवा उस परम-तत्त्व के संबंध में ज्ञानलाभ होता है, तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और अन्त में मोक्ष आदि की प्राप्ति होती है, उसे परा-विद्या कहते है। और जिस विद्या के द्वारा सांसारिक धन सम्मान अथवा सुखादि की प्राप्ति के लिए विज्ञान अथवा क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है, और ऐहिक उन्नति की प्राप्ति की जाती है, वह अधर्म और पुण्य बतलानेवाली विद्या अपरा विद्या है।'

शौनक ने विनीत स्वर में निवेदन किया—'भगवन्! इन दोनों विद्याओं को कृपया नाम लेकर अलग-अलग बतलाइये। मैं तो अभी तक समझता था कि किसी भी विद्या के द्वारा ऐहिक और पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ मिल सकती हैं, इसलिए आपकी इस व्याख्या को ग्रहण करने में मुझे कुछ कठिनाई हो रही है।'

अंगिरा बोले—'भद्र ! पहले मै अपरा विद्या को अलग से नाम लेकर बतला रहा हूँ, उसके बाद तुम परा विद्या को अपने आप-समझ जाओगे। सुनो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—इन चारो वेदों में निर्दिष्ट यज्ञ हवन आदि कर्म-काण्ड की रीति बतानेवाले कल्प, वेदों के अध्ययन और उच्चारण आदि का ढंग बतलानेवाली पाणिनि आदि वैयाकरणों की बनाई गई शिक्षा, शब्द की शुद्धि या स्वरूप निश्चित करनेवाले व्याकरण, वेदों के कठिन शब्दों के अर्थ बतलानेवाले निरुक्त, वेदों में संकलित गायत्री, उष्णिक्, त्रिष्टुप् आदि छंदों का भेद बतलानेवाला पिंगल या छन्दः शास्त्र तथा वैदिक एव लौकिक कर्मों के करने का निश्चित समय बतलानेवाला एवं ग्रह-नक्षत्रों की गति विधि तथा स्थिति का परिचय करानेवाला ज्योतिःशास्त्र—यह वेदों के अंगभूत शास्त्र तथा धनुर्विद्या, आयुर्वेद आदि उपवेद एव समस्त इतिहास, पुराण आदि उसी अपरा विद्या के अन्तर्भूत है, जिसके द्वारा केवल इहलोक में श्रेय की प्राप्ति होती है यह सभी विद्या कर्म-काण्ड, उपासना और लौकिक सुख-साधनों के लिए है। इसके अतिरिक्त जिस विद्या से हमें ब्रह्म अर्थात् परम तत्त्व का ज्ञान होता है वह परा विद्या है।'

शौनक को सन्देह हुआ। वह विनीत स्वर में बोला —'भगवन् ! क्या वेदों और शास्त्रों के विधिवत् अध्ययन और परिशीलन करने से भी उस परम तत्त्व का ज्ञान नहीं होता।'

अंगिरा बोले—'सौम्य ! इन वेद-शास्त्रों के परिशीलन एव चिन्तन से अविद्या दूर नहीं होती। इनके अध्ययन से सांसारिक विषय का ज्ञान अवश्य होता है परन्तु इस दुःखमय संसार से जन्म, जरा मृत्यु का भय इनसे नहीं छूट सकता। यह सभी शास्त्र लौकिक समुन्नति के साधक हैं। इस संसार में उत्पन्न होकर सौ में नब्बे से भी अधिक मनुष्य धन, मान, विभव एवं ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लेते हैं, वह न तो परलोक की कुछ बात जानते

हैं और न जानना चाहते हैं, पर उन सब को यह उक्त अपरा विद्या मालूम रहती है, इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि इसके सहारे उस परम तत्त्व की प्राप्ति कुछ कठिन होती है परन्तु सर्वथा असम्भव भी नहीं है। किन्तु इसके विपरीत परा विद्या की साधना लौकिक विषयों में ग्रस्त नहीं होने देगी। वह निश्चय ही अपने साधक को मुक्तिमार्ग का पथिक बनाती है। ब्रह्म की प्राप्ति उसी से सम्भव है। हे शौनक ! उस परम तत्त्व का दर्शन केवल परम धैर्यशाली विवेकी पुरुष ही कर सकते हैं। वह अदृश्य हैं, आँख आदि इन्द्रियों द्वारा पकड़ में नहीं आता, उसकी उत्पत्ति का भी कोई कारण नहीं है। न उसका कोई वर्ण है, न कोई रूप। आँख, कान, हाथ, पैर आदि से रहित है, समस्त विश्व उसी के वश में है। वह सर्व-व्यापी है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ में उसकी सत्ता रहती है। आकाश आदि पाँच महाभूतों का कारण वही है। उस कभी नाश न होनेवाले ब्रह्म का ज्ञान उसी परा विद्या से सम्भव है। अपरा विद्या की उपासना में लगे रहनेवाले, उस सर्व-व्यापी सत्ता की अनुभूति न कर सकने के कारण देवता नामक स्वतन्त्र वस्तु के उद्देश्य से परलोक में अपने सुखादि की कामना करके विविध प्रकार के यज्ञ हवनादि में लगे रहते है। किन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यज्ञ-हवनादि के करनेवाले भ्रान्त हैं। वे एक दम संसार के सुख भोग मे निरत रहनेवालों से तो अच्छे ही होते है। सांसारिक विषय भोग के कीट स्वार्थरत, काम-क्रोधादि के दासों से इनका जीवन अधिक सुख-शान्तिमय होता है। क्योंकि इन्हीं सत्क्रियाओं को करते-करते इनका चित्त अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है और कुछ काल के अनन्तर इनमें ब्रह्म की सत्ता की अनुभूति होना सम्भव हो जाता है।'

शौनक ने कहा—'महर्षे ! इन यज्ञ-हवनादि सत्क्रियाओं की पद्धति किस प्रकार फैली, जब कि इनके द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति में विलम्ब और बाधा होने की सम्भावना रहती है। मैं इसे जानना चाहता हूँ, कृपया स्पष्ट करके बताइये।'

अंगिरा बोले—'सौम्य शौनक ! इन यज्ञ हवनादि के अनुष्ठानों की पद्धति वशिष्ठ आदि ऋषियों के हृदय में ज्ञान-दीप के योग से ही प्रकाशित हुई थी। इनका उद्भव लोकैषणा में निरत रहनेवालों के उद्धार की कामना से ही हुआ है। जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ, इन यज्ञ-हवनादि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति में थोड़ी कठिनाई पड़ती है, क्योंकि यह सब कामना-मूलक कर्म हैं। परलोक में सुखादि की कामना से ही अधिकांश लोग इसमें प्रवृत्त होते हैं। अनुष्ठान पद्धति के मन्त्र निरर्थक नहीं हैं। जिन लोगों का चित्त सुख-भोग की लालसा के प्रभाव को पराजित नहीं कर सका, जिनकी बुद्धि में यज्ञानुष्ठान द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति करना ही परम पुरुषार्थ है, जिनका चित्त अन्त तक भी निर्गुण, निष्क्रिय, ब्रह्मवस्तु की धारणा के योग्य नहीं हुआ है उन्हीं लोगों के लाभार्थ उन्हीं की चित्तशुद्धि के अभिप्राय से अनेक प्रकार के यज्ञों की अनुष्ठान-पद्धति प्रचलित हुई है। इसी का नाम है कर्म-मार्ग। जिनके मन से भोग लालसा दूर नहीं हुई, जो अपने कर्मों के फल की कामना रखते हैं उन्हीं के लिए इस कर्म मार्ग की उपयोगिता है। इसके फल स्वरूप अन्त में स्वर्ग लोक को प्राप्ति होगी, यह बात तुमने श्रुतियों से भी जाना होगा।'

शौनक ने कहा—'भगवन् ! इन यज्ञ-हवनादि से स्वर्ग की प्राप्ति किस प्रकार होती है और इसे ज्ञान-मार्ग से निकृष्ट क्यों कहा जाता है, इसे कृपाकर समझा कर बताइये।'

अंगिरा बोले—'सौम्य ! काली, कराली, मन के वेग के समान शीघ्र जानेवाली मनोजवा, अतिशय लोहित (लाल) वर्ण की सुलोहिता, धूमाविल होने के कारण सुधूम्रवर्णा, चिनगारियों से युक्त होने के कारण स्फुलिंगिनी, सब प्रकार की रूपवाली होने के कारण विश्व-रूपी दिव्या अर्थात् प्रदीप्त उज्ज्वल प्रकाशमयी देवी—अग्नि की यह सात जिह्वाएँ या अर्चियाँ वेदों में वर्णित हैं। इन सब जीभों में यज्ञ की आहुतियों के जलने से मृत्यु के अनन्तर यजमान इन्हीं अग्नि जिह्वाओं का सहारा लेकर चन्द्र की किरणों का अवलम्बन लेकर यथा-

योग्य स्वर्ग लोक (पितृलोक) को प्रयाण करता है । यज्ञों द्वारा इसी प्रकार से स्वर्ग-फल को प्राप्ति होती है । किन्तु वत्स ! जैसा कि मैं बता चुका हूँ वह सब कर्म विशुद्ध ज्ञानवर्जित होते हैं, अतएव इनका फल भी ज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट होता है । ऐसे कर्मों के आचरण से संसार-बन्धन सदा के लिए नहीं छूटता क्योंकि कर्मों के फल का क्षय होते ही जीव को फिर मृत्यु लोक में आना पडता है । इस प्रकार बार-बार जन्म, जरा और मृत्यु के जाल में फंसकर कष्ट उठाना पड़ता है । इसलिए यह सब यज्ञ-हवनादि 'अदृढ़' अर्थात् विनश्वर कहे जाते हैं । एक अन्धा जैसे दूसरे अन्धे की लाठी पकड़ कर पथ-प्रदर्शन करने चलता है और फिर दोनों ही किसी अँधेरे अनजान गड्ढे या कुएँ में गिर कर दुःख उठाते हैं उसी तरह इन यज्ञों के करानेवाले पुरोधा अज्ञान-समुद्र में स्वयं डूबते-उतराते यजमान को भी ले डूबते हैं । इसी तरह जो व्यक्ति केवल इस लोक में कुँआँ, तलाब, बावली आदि का निर्माण करा कर विषय, सुख-समृद्धि की कामना करते हैं और उससे बढ़कर संसार में कोई भी श्रेय मार्ग नहीं समझते वह भी उसी तरह के मूढ और अज्ञानी होते हैं । हे शौनक ! ये दोनों प्रकार के अज्ञानी विविध प्रकार की योनियो में घूमते हुए पराधीनता का घोर दुःख उठाते है । ज्ञान से वर्जित कर्मानुष्ठान का यही दुःखदायी फल होता है । ऐसे कर्मानुष्ठान में निरत व्यक्तियों का नाम केवल कर्मी है ।

'किन्तु इनमें भी कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो केवल कर्मी नहीं होते । उनका चित्त कर्मकण्डियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता है । चित्त के अधिक शुद्ध होने के कारण ब्रह्म-विज्ञान की ओर उनकी रुचि होने लगती है । आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से देवोपासना करना ही जब उनका उद्देश्य नहीं रह जाता तब उनके चित्त में क्रमशः ब्रह्म-ज्योति प्रकाशित होने लगती है ! ऐसे लोग ज्ञानविशिष्ट कर्मी कहे जाते हैं । ब्रह्म-सत्ता के बिना किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, देवताओं की सत्ता भी ब्रह्म-सत्ता के ऊपर ही अवलम्बित है, यह तत्त्व उनकी समझ

में आ जाता है। किन्तु उस स्थिति में भी पूर्णब्रह्म के स्वातन्त्र्य का तत्त्व पूर्ण रीति से उनके चित्त में प्रस्फुटित नहीं होता अतएव बाहर के सभी अनुष्ठान भी उनके मन से नहीं हटते और वे पूर्ण भावनात्मक यज्ञ में निरत भी नहीं होते। किन्तु सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन के अभ्यास में निरत रहने वाले अनुष्ठान में ऐसे ज्ञान विशिष्ट साधक भी बहुत उच्च कक्षा के होते हैं। शरीर छूटने पर ये उत्तरायण में सूर्य किरणों के आश्रय से ब्रह्मलोक को पहुँच जाते हैं। वहाँ ज्ञान की परिपूर्णता के कारण भूलकर भी कभी ब्रह्म से भिन्न किसी सत्ता का वे अनुभव नहीं करते और इस शाश्वत मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

"इससे भी उच्च कोटि के वह साधक हैं, जो गृहस्थाश्रम में रह कर सर्वत्र ब्रह्म-सत्ता के अनुभव का अभ्यास करते हैं और उसके हिरण्यगर्भ एवं विराट् स्वरूप को धारण करते हैं, वानप्रस्थ होकर ब्रह्म साधना में लीन होकर भिक्षा वृत्ति से जीवन धारण कर इन्द्रियों समेत मन को जीत कर आत्मस्थ रहते हैं। अथवा जो केवल सुदृढ़ ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्म-साधना में दत्तचित रहते हैं वह विशिष्टकर्मी कहलाते हैं। वह शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं और कभी लौटकर मृत्यु-लोक में नहीं आते।"

इतना उपदेश कर चुकने के बाद अंगिरा ने फिर कहा—'प्रियदर्शन शौनक ! आज मैंने तुम्हें अपरा विद्या के बारे में बतलाया है अब जाकर इसका चिन्तन करो। कल तुझे उस परा विद्या का परिचय कराऊँगा, जिसके लिए तुम इतने परेशान होकर मेरे पास आए हुए हो।'

शौनक ने अङ्गिरा के चरणरज को लेकर अपने मस्तक और आँखो में लगा लिया और हाथ जोड़ कर गद्‌गद् स्वर में कहा—'महर्षे ! मुझे आपके इस उपदेशामृत से परम शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति हो रही है, अब तो निश्चय ही मेरा जीवन सार्थक हो जायगा।'

+　　+　　+

दूसरे दिन ठीक उसी समय नित्यकर्म से निवृत्त होकर शौनक जब अंगिरा के पास पहुँचा तब वह फिर आत्मचिन्तन में समाधिस्थ होकर विराजमान थे। उनकी लम्बी जटा का जूट बिना किसी क्रम से मृगचर्म पर बिखरा हुआ था, आँखें बन्द थीं और सारा शरीर पद्मासन की मुद्रा में अवस्थित था। थोड़ी देर बाद अंगिरा की समाधि स्वयं टूटी। उन्होंने देखा कि समित्पाणि शौनक प्रफुल्ल मन से उनके चरणों के समीप बैठा हुआ है। मुसकराते हुए अङ्गिरा ने पूछा—

'भद्र शौनक! तुम देर से आ गए थे क्या!'

शौनक ने विनीत स्वर में कहा—'नहीं गुरुदेव! मैं अभी थोड़ी देर पहिले ही यहाँ आया हूँ।'

कुछ देर तक चुप रहने के बाद अंगिरा ने एक बार शून्य आकाश की ओर देखकर शौनक की ओर आँखें फेरीं और धीरे गम्भीर स्वर में कहा—'प्रियदर्शन शौनक! आज मैं तुझे उसी परा विद्या के बारे में बतलाऊँगा, ध्यान देकर सुनना।

"जिसके द्वारा उस परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप जाना जाता है, वही परा विद्या है, यह तो मैं कई बार तुझे बता चुका हूँ। ब्रह्मज्ञानी लोग इस ब्रह्म वस्तु का निर्देश 'अक्षर' शब्द से करते हैं। मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म ही अक्षर ब्रह्म है। श्रुति में माया शक्ति का नाम अक्षर शक्ति भी कहा गया है। यह अक्षर माया शक्ति वास्तव में ब्रह्मसत्ता से पृथक् वस्तु नहीं है, इसी अक्षर शक्ति से समन्वित होने के कारण ब्रह्म भी 'अक्षर' कहा जाता है। पण्डित लोग इस अक्षर पुरुष या ब्रह्म को भूतयोनि अर्थात् सभी पृथ्वी, जल आकाश आदि भूतों का कारण मानते हैं। उसी अक्षर ब्रह्म से ही सब भूत उत्पन्न हुए हैं। किन्तु उस 'अक्षर' ब्रह्म को हमारी इन्द्रियाँ कभी पकड़ नहीं सकतीं। उसका कारण बतला रहा हूँ, सुनो।

"मनुष्य की इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं, कुछ तो केवल काम करती हैं और कुछ केवल ज्ञान प्राप्त करती हैं। आँख, कान, जीभ,

नाक और चमड़ी—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और हाथ, पैर, वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। इन सब इन्द्रियों के अलग-अलग ग्राह्य विषय होते हैं अर्थात् यह सब केवल अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं, आँख का काम नाक या नाक का काम चमड़ी नहीं कर सकती। आँख केवल रूपात्मक विषय का ग्रहण कर सकती है और नासिका केवल गन्ध को पकड़ सकती है। अर्थात् यह सब कान, चमड़ी आदि दस विषयों—शब्द स्पर्शादि—को ही ग्रहण कर सकती हैं, किन्तु जो अक्षर पुरुष इन शब्द स्पर्शादि सभी विषयी का कारण है उसको ये किस प्रकार ग्रहण कर सकती हैं। ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, केवल विषय वर्ग को ही पकड़ सकती हैं, जो सब विषयों का परम सूक्ष्म कारण बीज है, उसको नहीं ग्रहण कर सकतीं। इस अक्षर पुरुष का कोई दूसरा मूल बीज वा कारण नहीं है। कारण की सत्ता अपने कार्य में अनुगत या अनुस्यूत रहती है, कारण रूपी ब्रह्म की सत्ताकार्य रूप जगत् में अनुगत रहती है। उस अक्षर पुरुष का कोई धर्म भी नहीं है, क्योंकि शुक्लत्व, स्थूलत्व आदि धर्म किसी न किसी द्रव्य वा पदार्थ के होते हैं, ब्रह्म वैसा कोई द्रव्य वा पदार्थ तो है नही। इसी तरह वह रूप और नाम से भी विहीन है, न उसकी कोई इन्द्रिय है, न वह ग्राह्य है, न ग्राहक है। इसीलिए इस विनाशशील जगत् का वह आदि कारण नित्य और अविनाशी है और आकाश की तरह सर्वत्र और सर्वदा व्यापक है। उसे ही अव्यय भी कहा जाता है। इस स्थूल जगत् में हम लोग जिसको कारण या कार्य करनेवाले के रूप में जानते है उनके लिए भी स्थूलता का तारतम्य सोचते हैं, किन्तु वह इस स्थूल जगत् का कारण है; इसलिए इस जगत् की कोई वस्तु उसकी उपमान नहीं हो सकती। वह तो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, निरवयव और अविनाशी है। वह निर्गुण है अर्थात् उसमें गुणों की क्षय-वृद्धि नहीं होती। उसी निरवयव, निर्गुण, निर्विकार एवं अविनाशी अक्षर पुरुष से इस सावयव, सगुण, सविकार और विनश्वर जगत् ती उत्पत्ति होती है।

"जैसे मकरी बाहर से किसी अन्य वस्तु का आश्रय न लेकर अपने शरीर से ही अपने जाले के ताने-बाने की सृष्टि करती रहती है, ये तागे या तन्तु उसके शरीर से अगल कोई भिन्न वस्तु नहीं होते इनका एकमात्र उपादान उसका शरीर ही होता है और फिर निज शरीर से तन्तुओं को निकाल कर फिर उन्हें अपने ही शरीर में प्रविष्ट कर लेती है, अर्थात् तन्तुओं को शरीर रूप में बदल लेती है, उसी प्रकार वह अक्षर पुरुष इस समस्त जगत् को सृष्टि करता है और अन्त में फिर अपने रूप में धारण कर लेता है। उसके स्वरूप के अतिरिक्त यह कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे पृथ्वी से वृक्ष, लताएँ सब स्थावर पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी के ही रूपान्तर वा अवस्था भेद माने जाते हैं, इसी प्रकार यह जगत् भी उस पुरुष का रूपान्तर वा अवस्था भेद है, कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

"यदि तुम यह कहो कि इस अचेतन वा जड जगत् का कारण भी अचेतन और जड ही होगा तो उसके बारे में मेरा वह दृष्टान्त ग्रहण करो। जिस प्रकार चेतन जीव से नितान्त भिन्न अचेतन केश, लोम नखादि उत्पन्न हुआ करते है और इसे हम प्रति दिन देखा करते हैं उसी प्रकार अक्षर और चैतन्य पुरुष से यह विनाशी और जड जगत् उत्पन्न होता है। इस प्रकार रूप में यह जगत् उससे एक विभिन्न पदार्थ भी होता है तभी देखा जाता है कि यह विश्व उस अक्षर चैतन्य पुरुष से न तो नितान्त भिन्न है और न नितान्त अभिन्न। निमित्त कारणरूप से वह जगत् से स्वतन्त्र अभिन्न और भिन्न है तथा उपादान कारणरूप से अभिन्न और अस्वतन्त्र है।"

शौनक ध्यानपूर्वक अङ्गिरा के उपदेशामृत का पान कर रहा था। जड जगत् के कारण अक्षर ब्रह्म की इस परिभाषा को सुनकर उसे फिर शङ्का हुई और वह विनीत स्वर में हाथ जोड़कर बोला—'भगवन्! उस अक्षर चैतन्य पुरुष से किस प्रणाली या रीति से यह विश्व अभिव्यक्त हुआ, मुझे कृपा कर यह भी बतलाइये।'

अंगिरा बोले—'शौनक ! ध्यानपूर्वक सुनो, मैं इस जड जगत् की उत्पत्ति की प्रणाली बतला रहा हूँ। सृष्टि के पूर्व काल में उस अक्षर पुरुष वा ब्रह्म को सृष्टि करने की कामना वा इच्छा हुई। जिस प्रकार अंकुर फूटने के समय बीज कुछ मोटा वा पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार नित्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म चैतन्य भी इस सृष्टि करने की कामना से कुछ उपचित वा परिपुष्ट हो उठता है। उसको यह ज्ञान होता है कि 'एक मैं बहुत रूपों में प्रकट होऊँ' और इस प्रकार उसकी चेतना द्वारा विश्व की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। उस अव्यक्त शक्ति की पहली सूक्ष्म अभिव्यक्ति का नाम 'हिरण्यगर्भ' है। सृष्टि कामना से यह 'हिरण्यगर्भ' या 'स्पन्दन' स्थूल आकार धारण करता है। सूक्ष्म स्पन्दन की इस स्थूल अभिव्यक्ति का नाम 'विराट' भी है। सब से पहले अन्न की उत्पत्ति होती है फिर अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से पाँचों महाभूत, महाभूतों के समस्त लोक, लोक से कर्म-जाल तथा कर्मजाल से अनेक शुभाशुभ फल उत्पन्न होते हैं। उस सर्वज्ञ सर्वविद परब्रह्म से ही, जिसका तप ज्ञानमय है, सृष्टि के समस्त नाम-रूपों के भेदोपभेद प्रादुर्भूत होते हैं। उसी से यह खारा समुद्र और अतिशय ऊँचे पर्वतों को भी उत्पत्ति होती है, चारों दिशाओं में दौड़ने वाली नदियाँ, विविध प्रकार की औषधियाँ, उद्भिज एव सब प्रकार के रसों का भी वही उत्पत्तिकर्त्ता है। वह ब्रह्म ही इस जगत् रूप से स्थित है। वही सब कुछ है। ज्ञान और तप की उत्पत्ति भी उसी से हुई है। ज्ञान-विहीन केवल कर्मीजन तप का आश्रय लेते है और ज्ञानी जनो का साधन ज्ञान है, यह भी उसी का रचा हुआ विधान है। जो भाग्य-शाली अपने हृदय में जीवात्मा के सहित भिन्न भाव से परम अमृत स्वरूप उस ब्रह्म पदार्थ का अनुभव करते हैं उनकी हृदय को सारी गाँठें खुल जाती हैं और वे जगत् के समस्त बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाते हैं।'

शौनक ने कहा—'भगवन् ! अब कृपया उस ब्रह्म की प्राप्ति के

कुछ सरल उपाय बताइये ?'

अंगिरा बोले—'भद्र ! उत्तम साधना में लीन रहनेवाले नित्य ही ब्रह्म के उक्त स्वरूपादि के विचार में प्रवृत्त रहेगे। वह अविनाशी ब्रह्म स्वयं अपनी ज्योति से सर्वत्र प्रकाशमान है, उसे कहीं ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। वह सब प्राणियों के अन्तर की बातें जानता है। वह हृदय रूपी गुहा में शयन करता है। बुद्धिरूप गुहा में वह आत्म-चैतन्य बुद्धि की विविध वृत्तियों के संसर्ग से ज्ञानकार में प्रकाशित होता है। उसी के प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित होता है, उसके प्रकाश के बिना जगत् में प्रकाश होना सर्वथा असंभव है। समस्त जगत् की उत्पत्ति का मूल उपादान या कारण जो मायाशक्ति है वह भी उसी में अधिष्ठित है, जैसे पहिए के आरे रथ की नाभि में प्रविष्ट रहते हैं वैसे हो सब पदार्थ उसमें रहते है। उड़नेवाले पक्षी, पशु मनुष्य, वृक्ष, लता, गुल्म—स्थावर जंगम सभी वस्तुएँ ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। जगत् में अभिव्यक्त सत् और असत् सूक्ष्म और स्थूल मूर्त्त और अमूर्त्त सभी वस्तुएँ उसी में प्रतिष्ठित हैं। इन समस्त वस्तुओं की सत्ता तथा स्फूर्ति ब्रह्म की ही सत्ता तथा स्फूर्ति पर निर्भर हैं। जगत् में जितने सब दीप्तिमान् सूर्यादि पदार्थ दिखाई पड़ते है उसी की दीप्ति से दीप्ति पा रहे हैं। वही एकमात्र जानने योग्य है। हे सौम्य ! उसे तुम जानने का प्रयत्न करो। उपनिषदों में बताए गए ज्ञान के महास्त्र रूप धनुष को धारण करके उपासना द्वारा शान पर चढ़ाए गए बाण उस पर चढ़ाओ और उसी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर एकाग्र चित्त से उसी का भेदन करो। उस उपनिषद में वर्णित प्रणव अर्थात ओंकार ही धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। एकाग्रमन और शुद्ध अन्तःकरण मे उस लक्ष्य को भेदते हुए बाण के समान ही उसमें तन्मय और तद्गत होना पड़ता है। अर्थात जिस तरह बाण अपने निशान के भीतर घुस जाता है उसी प्रकार साधक को चाहिए कि वह ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न करे। जिस परमात्म तत्त्व में स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष—समस्त प्राण और

मन—यह सब जुड़े हुए हैं, केवल उसी के ढूँढने और प्राप्त करने का यत्न करो। अन्य समस्त विषयों के ज्ञान छोड़ दो, केवल वही परमात्मतत्व मोक्ष के लिए साधक और इस भवसागर के संतरण के लिए महान् सुदृढ़ सेतुस्वरूप है। वह सब कुछ जाननेवाला है; उसके भीतर और बाहर कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। उसकी महिमा सर्वत्र समस्त लोकों में फैली हुई है। वह दिव्य ज्योतिर्मय हृदय रूपी ब्रह्म नगर में विराजमान और समस्त आकाश में व्याप्त है। वह मनोमय है, समस्त विश्व में जो कुछ भी प्रकाशित या प्रकट हो रहा है सब उसी के आनन्द और अमृत स्वरूप का परिचायक है। धीरे विद्वान् लोग ज्ञान द्वारा उसके उस अनंत व्यापी रूप का दर्शन पाते हैं। उस कारण रूप और कर्म रूप ब्रह्म के दर्शन हो जाने से सभी संशय दूर हो जाते हैं और हृदय की गाँठें खुल जाती हैं। समस्त किए गए शुभाशुभ कर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं और साधक को अक्षय मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"बुद्धि ही उस परम आत्मस्वरूप की उपलब्धि का साधन है। इसी बुद्धि को ज्योतिर्मय या विज्ञानमय कोष कहते हैं, इसी कोष में सब (प्रत्येक विज्ञानों) के साक्षी रूप आत्मा विराजमान है। इसी स्थान में ब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिये। यह परम शुद्ध और सब प्रकार के प्रकाशों का प्रकाशक है, उसे केवल आत्मज्ञानी ही जान सकते है। उसे न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा। तारा गण तो उसे क्या ज्योति प्रदान कर सकते हैं? अग्नि और बिजली के तेज की तो बात ही बेकार है वरन् उसी के तेज से यह प्रकाशित होती हैं। वही अमृतमय ब्रह्म पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे-ऊपर सब जगह समान रूप से व्याप्त है।

"हे शौनक! जीव और ईश्वर सदा साथ-साथ मित्रतापूर्वक रहनेवाले दो पक्षियों के समान इस शरीर रूपी एक ही आश्रय पर टिके हुए हैं। उनमें से एक (जीव) मोह से उत्पन्न सुख-दुःखमयी

भावना रूपी फल को खूब स्वाद के साथ भक्षण करता है और दूसरा निर्लिप्त और निःसंग भाव से रहकर फल को बिना भोगे ही अपने साथी के फल-भोग का दृश्य देखता रहता है। भोग करनेवाला जीव उस अपने आश्रय रूपी वृक्ष (शरीर) के प्रति आशक्त होकर काम क्रोध आदि की भावनाओं में निमग्न रहता है। वह सांसारिक विषय भोग में लिप्त होकर धन,रत्न, पुत्र-पौत्रादि को ही परम सत्य समझ कर अज्ञान या अविद्या के कारण उनके प्रति ममत्व के भाव को छोड़ने में असमर्थ हो जाता है। और जब उनमें से किसी के विनाश या वियोग का अवसर देखता है तो शोकमग्न होकर विलाप करने लगता है। परन्तु जब वही जीव अपने दूसरे साथी की महिमा को, उसकी संग रहित शुद्ध बुद्धि की महिमा को देखता है तब शोक छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है।

"वत्स शौनक! अब तुझे ब्रह्म प्राप्ति सहायक कुछ अन्य सरल उपायों को हम बतला रहे हैं जिनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। सुनो, उसे पाने के लिए वचन, भावना और आचरण से भी मिथ्या का परित्याग करना चाहिए। सर्वत्र सत्य पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। मनसा, वाचा, कर्मणा परायण होना चाहिए। यही ब्रह्म विद्या की प्राप्ति में सहायक है। वेद में सत्य की महिमा गाई गई है, सत्य ही की सदा जय होती है, मिथ्या की कभी नहीं। सत्याचरण से ही मनुष्य के लिए देव मार्ग (अमरत्व प्राप्ति का पथ) खुला रहता है। उसी देव मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषि लोग, जिसकी समस्त तृष्णा शान्त हो जाती है, जिनकी समस्त कामनाएँ स्वतःविलीन हो जाती है, सत्य रूप ब्रह्म के परम धाम को प्राप्त करते हैं।

"तपस्या द्वारा भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। इन्द्रियों समेत अन्तःकरण की एकाग्रता का नाम ही सच्ची तपस्या है। चित्त और इन्द्रियों की चंचलता के कारण विषयों से आसक्ति नहीं छूटती और आसक्ति के रहते हुए कभी ब्रह्म की ओर ध्यान नहीं जाता अतः सत्य-

निष्ठ होने के बाद इन्द्रियों समेत मन को वश में करने का यत्न करना चाहिए। इसके बाद सम्यक् ज्ञान की उपासना करनी चाहिए। सर्वत्र आत्म-दर्शन का अभ्यास ही सम्यक् ज्ञान है। आत्म दर्शन का फल यह होता है कि थोड़े ही दिनों में उस परम आत्मा से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का भान नहीं होता, पदार्थों को स्वतन्त्रता का ज्ञान धीरे-धीरे दूर हो जाता है। उस स्थिति में जहाँ कहीं देखो वही एक परम आत्मसत्ता दिखाई देती है।

"ब्रह्मचर्य-पालन भी ब्रह्म-साधना का एक सरल उपाय है। ब्रह्मचर्य की रक्षा से वीर्य की वृद्धि होती और ब्रह्मचर्य के द्वारा इन्द्रियों समेत चित्त को वश में किया जा सकता है। इन उपर्युक्त साधनों की सहायता से चित्त का मल दूर हो जाता है और परिश्रमी साधक क्रमशः देह के मध्य बुद्धिगुहा में विराजमान ज्योतिःस्वरूप प्रकाशमय ब्रह्म का दर्शन कर कृतार्थ हो जाता है।

"चित्त में विषय-कामना के बदले आत्मा-कामना की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। वह भी ब्रह्मोपासना का एक परम सहायक साधन है। जब चित्त में सत्त्वगुण बढ़ता है निर्मल चित्त में ब्रह्म से भिन्न किसी भी विषय की कामना नहीं उठती। उस स्थिति में वह सर्वत्र सर्वथा और सर्वदा ब्रह्म की कामना में ही ध्यान लगाए रहता है।

"यह आत्म-लाभ, जैसा कि पहले कह चुका हूँ, केवल शास्त्रों के अध्ययन आदि से नहीं प्राप्त होता। बड़ी प्रखर-बुद्धि या सब शास्त्रों के अर्थ को धारण करनेवाली शक्ति द्वारा भी आत्म लाभ नहीं हो सकता, बड़े-बड़े शास्त्रार्थों से भी यह बात नहीं बन सकती। बहिर्मुख लोग तो सहस्रों बार ब्रह्म-चर्चा सुनकर भी उसको नहीं जान पाते। अतः इन सब बातों को भली भाँति समझ बूझकर साधक को अन्तर्मुख होना चाहिए। उसी स्थिति में वह आत्मा और परमात्मा के अभेद को सहज ही में समझ सकेगा। बात यह है कि अविद्या, वासना आदि के द्वारा आत्मा

का यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो जाता है। उसी अविद्या वासना को दूर कर दो, फिर तो सर्वत्र आत्मा ही आत्मा दिखाई पड़ेगी।

"तुम निरन्तर आत्म-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते रहो, क्योंकि प्रार्थना भी ब्रह्मोपासना में एक प्रधान सहायक उपाय है। इस प्रकार की आत्मनिष्ठा की सामर्थ्य जिनमें नहीं है उन्हे कभी आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जिसका चित्त अपने वश में नहीं है, पुत्र-पशु आदि गृहस्थी के झंझटों में उलझा रहता है, ऐसे लोगों को भी आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जिस पुरुष का चित्त सब प्रकार के विकारों से रहित होकर निर्मल और निष्कलंक हो गया है, वह जिस-जिस विषय की कामना करता है, वह सब पूर्ण हो जाती है। इसलिए मनुष्य को आत्मज्ञान का लाभ करना चाहिए। जिस व्यक्ति में आत्म-बल नहीं है वह कुछ भी नहीं सिद्ध कर सकता। मतिद अथवा ज्ञान-हीन तपस्या द्वारा इस आत्मा की प्राप्ति ही नहीं होगी।"

शौनक बीच ही में बोल पड़ा। तपस्या की शक्ति पर उसे पूरा विश्वास था। वह हाथ जोड़कर बोला—'महर्षे! क्या सच्ची तपस्या द्वारा उस आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। तपस्या का प्रभाव तो निष्फल नहीं जाना चाहिए।'

अंगिरा ने कहा—'वत्स शौनक! मैंने ज्ञानहीन तपस्या के लिए कहा है कि उससे आत्मप्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष आत्म-बल, अप्रमाद तथा ज्ञानयुक्त तपस्या द्वारा साधना मे निरत हैं, आत्म-चिन्तन में लगे हुए हैं, वह ब्रह्मधाम में प्रवेश करके आत्मा के दिव्य स्वरूप का दर्शन एक न एक दिन अवश्य प्राप्त करेगे। उनकी तपस्या कभी निष्फल होनेवाली नहीं होगी, वे साधना में निरत तपस्वी-गण ब्रह्म-स्वरूप का दर्शन पाकर सभी लालसाओं से रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त करते हैं।

"वेदान्त द्वारा प्राप्त किए ज्ञान के निश्चित तत्त्व से परिचित और संन्यासयोग द्वारा विशुद्ध चित्त होकर परम अमरत्व की प्राप्ति करनेवाले

वे तपस्वी शरीर को त्यागने के बाद ब्रह्मलोक में जाकर शाश्वत मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।'

शौनक ने विनीत स्वर में कहा—'महर्षे ! महामुक्ति से यही तात्पर्य है न कि संसार में जन्म लेने से सदा के लिए छुटकारा पा जाते हैं या और कुछ।'

अंगिरा ने कहा—'शौनक ! मुक्ति का अर्थ है छूटना। अविद्या अर्थात् वासना आदि ही इस संसार की बन्धन-रज्जु है। इस अविद्या से मोचन अर्थात् छूटने का नाम मुक्ति है। ब्रह्म-साधना में लीन साधक इसी अविद्या से छुट्टी पाने की ही कामना रखते है।'

शौनक ने विनीत स्वर में पुनः पूछा—'गुरुदेव ! उस मोक्ष पानेवाले की मृत्यु के समय क्या विशेषता होती है।'

अंगिरा ने धीर गम्भीर स्वर में कहा—'शौनक ! जो साधक मोक्ष की प्राप्ति करते है, मृत्यु के समय उनके प्राण आदि की पन्द्रह कलाएँ अपने-अपने कारण मे विलीन हो जाती हैं, उनकी समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण रूप सूर्य आदि देवताओं में जाकर विलीन हो जाती हैं, जिन सब पूर्वजन्म के किए गए कर्मों के फल से इस शरीर की प्राप्ति हुई रहती है उनका भोग समाप्त हो जाता है और ब्रह्मज्ञान के अमिट प्रभाव से इस जन्म के कर्मों की वासना के बीज का भी विनाश हो जाता है। उनकी कर्ममयी और विज्ञानमयी आत्मा परम आत्मा के अविनाशी तत्त्व के साथ मिलकर एकरूप हो जाती है। जिस प्रकार बहनेवाली ये नदियाँ नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती है उसी प्रकार ज्ञानी एवं आत्मनिष्ठ पुरुष भी नाम और रूप के बंधन से विमुक्त होकर उस दिव्य परात्पर पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। हे तात ! जो उस परात्पर पुरुष को भली भाँति जान लेता है, वह स्वय ब्रह्मरूप हो जाता है। उसके कुल में भी कोई ऐसा पैदा नहीं होता जो ब्रह्म को न जानता हो। वह सब प्रकार के रोग, शोक, दुःख, दारिद्रय से सदा के लिए छुटकारा पाकर गहरी गुफा

के समान अन्तर्मन की सभी गाँठों से मुक्त होकर अमर पद को प्राप्त करता है।

"हे वत्स ! यह परम गोपनीय ब्रह्म विद्या जैसे तैसे, ऐरे गैरे लोगों को नहीं बताई जाती। तुम्हारी तरह सभी कर्मानुष्ठानों से अपने चित्त को जो ब्रह्म-विद्या-लाभ के योग बना लेता है, उसी को बताई जाती है। मैंने तुम्हे इस परम रहस्य का उपयुक्त पात्र समझकर उपदेश दिया है। बेटा ! इसकी भरसक रक्षा करना। तुम्हारा कल्याण हो। मैं उन परम ऋषियों को नमस्कार करता हूँ, जिनकी अमोघ कृपा से मुझे उसकी प्राप्ति हुई है।'

शौनक भक्ति-विह्वल होकर अंगिरा के पैरों पर अंजलि बाँधकर गिर पड़ा, हृदय के आनन्द की अधिकता से उसका गला रुँध गया, बड़े-बड़े नेत्रों में जल के कण छलक आए, मुखमण्डल लाल हो गया और रोमावलि खड़ी हो गयी। थोड़ी देर तक वह इसी तरह आनन्द-समुद्र में डुबकियाँ लगाता रहा, अंगिरा ने उठाकर उसे गले से लगा लिया और फिर मुसकराते हुए कहा—'बेटा ! तुम्हारा कल्याण हो।'

+ + +

दूसरे दिन प्रातः काल अंगिरा से विदा लेकर शौनक भक्ति-समेत अपने घर की ओर चल पड़ा। ब्रह्मज्ञान के शुभ्र प्रकाश से उसका अन्तःस्थल अलोकित हो गया था। वन्य प्रकृति की सुखदायिनी छटा देखते हुए वह कब त्रिगर्त पहुंच गया, इसका ज्ञान उसे तब हुआ जब लोग आ-आकर उसे प्रणाम करने लगे, कुशल प्रश्न पूछने लगे और उसके भवन की दीवारें दिखाई पड़ने लगी।

श्वेतकेतु, गौतम और प्रवाहण जैबलि

प्राचीन काल में महात्मा अरुण के पुत्र आरुणि गौतम नाम के हमारे देश में एक सुप्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी और महात्मा पण्डित थे। उनका पुत्र श्वेतकेतु भी उन्हीं की तरह सब शास्त्रों का महान् पण्डित और प्रवक्ता था। गौतम की विद्वत्ता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि दूर-दूर देश के विद्यार्थी उनके समीप विद्याध्ययन के लिए आते थे। उनका पुनीत आश्रम जनपद से थोड़ी ही दूर गंगा के दाहिने तट पर था। पुण्य-सलिला सुरसरि में स्नान करने के बहाने अनेक सद्‌गृहस्थ भक्त और जिज्ञासु जन भी उनके आश्रम में प्रायः पहुँचते रहते थे और कृतार्थ होकर वापस लौटते थे। श्वेतकेतु की अवस्था अभी अधिक नहीं थी उसने थोड़े ही दिनों पूर्व अपने गुरु के आश्रम में दीक्षा ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। एक दिन सन्ध्या के समय अपने कुछ शिष्यों और गृहस्थों के साथ गौतम बैठे थे, वहाँ उनका पुत्र श्वेतकेतु भी विद्यमान था।

संसार से विरक्त रहनेवाले तपोधन आरुणि गौतम के पास इतनी सम्पत्ति नहीं कि पुत्र की गृहस्थी का भार भी वे सँभालते। उनके चित्त में पुत्र की गृहस्थी बसाने की कोई आसक्ति तो थी नहीं परन्तु उपदेश में अपना कर्तव्य देखकर बातचीत के प्रसंग में वे बोले—'बेटा अब तू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर चुका है। शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन भी कर चुका है। गृहस्थी का भार सभी आश्रमों से अधिक महत्त्व पूर्ण है, उसमें प्रवेश करने के लिए तुझे तैयार हो जाना चाहिए। मेरी शक्ति अब ऐसी नहीं है कि तुम्हारी गृहस्थी का सब प्रबंध कर सकूँ। और संभवतः इसकी आवश्यकता भी तुम्हें न पड़ेगी कि मैं तेरी गृहस्थी बनाऊँ। अच्छा होगा कि तू कुछ धन संग्रह कर ले और योग्य पत्नी का पाणिग्रहण कर गृहस्थाश्रम में जुट जा! यही हमारे शास्त्रों की आज्ञा है और संसार में जन्म लेने की सर्वोत्तम चरितार्थता है।'

श्वेतकेतु को उस भारी भीड़ में अपने पिता की इन अटपटी बातों से कुछ धक्का-सा लगा। उसका सुन्दर मुख विवर्ण हो गया और तेजस्वी आँखों में एक चमक-सी आ गई। लज्जा और संकोच में भीतरी भावों की धारा कण्ठ से बाहर नहीं फूट सकी, वह सामने की ओर से मुख हटाकर नीचे अपने पैरों की उँगलियों को निरखने लगा। थोड़ी देर तक सभी लोग चुप रहे और श्वेतकेतु अपने दाहिने अँगूठे से जमीन की मिट्टी कुरेदता रहा। दयालु पिता को अपने प्रिय पुत्र के मनोभावों को समझने में देर नहीं लगी। उनकी अनुभवी आँखों ने यह जान लिया कि इस बात के लिए यह अवसर उपयुक्त नहीं था। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वे धीर-गम्भीर स्वर में फिर बोले—'बेटा! संसार कर्म-क्षेत्र है। धीरता और साहस का सबल लेकर इसमें जुट पड़ना ही मानव का चरम उद्देश है। किसी की सहायता की आशा करना ही कायरता है। इस संसार में आँखें उघार कर देखो कितने ऐसे मिलेंगे, जिन्हें सहायता करना तो दूर शब्दों द्वारा सहानुभूति प्रकट करनेवाला भी कोई नहीं है। फिर भी वे कर्त्तव्य-पथ पर अपने धैर्य और साहस का संबल लेकर बढ़ते चले जाते है और एक न एक दिन सफलता की लक्ष्मी उनके गले में अपना वरणमाल डाल देती है। तुझे तो सभी प्रकार की सहायता अभी मैं दे सकता हूँ। बेटा! इसमें लज्जित होने या सकुचाने की कोई बात नहीं है। मैं देखना चाहता हूँ कि शास्त्रों ने तुझ में कितनी शक्ति भर दी है।'

श्वेतकेतु का साहस उदय हुआ। लज्जा कुछ दूर हुई और मन को धैर्य का तनिक-सा आधार मिला। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद विनीत स्वर से वह बोला—'तात! गृहस्थाश्रम के बखेड़ों का मुझे पूरा पता है और मैं उनके तमाम दायित्वों को उठाने की क्षमता रखता हूँ पर धन अर्जन करने का कोई उपाय मुझे ज्ञात नहीं है और धन के बिना गृहस्थी का जीवन नरक से भी महान् दुःखदायी है। ऐसी स्थिति में मैं यही उचित समझता हूँ कि वैखानस का जीवन्

बिताऊँ ।'

श्वेतकेतु की निराश और कायरतापूर्ण बातें सुनकर आरुणि गौतम अपने शिष्यों और समुपस्थित गृहस्थों की ओर एक बार देख कर कुछ क्षुब्ध स्वर में बोले—'बेटा! वैखानस जीवन की मैं निन्दा नहीं करता हूँ पर तुझे जैसा कायर और भीरु उसे भी कलंकित करेगा। संसार में एक नवयुवक के लिए धन क्या राज-पद भी दुर्लभ नहीं है, सिद्धियाँ उसकी दासी बन सकती हैं और धन-सम्पत्ति उसके पैर के नीचे पड़नेवाले ठीकरों से गया बीता हो सकता है। इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है, सत्संकल्प और उसके पीछे अपनी सारी शक्तियों को लगा देने की लगन भर होनी चाहिए। धन तो एक अति तुच्छ और नश्वर वस्तु है, हम अपनी सच्ची निष्ठा और सत्यसंकल्प से शाश्वत अमर पद प्राप्त कर सकते हैं। तेरी निराश बातों से मुझे लग रहा है कि तूने सच्चे मन से शास्त्रों की सेवा नहीं की है।'

उपस्थित जन मण्डली में आरुणि गौतम की उत्साह भरी बातों ने उमंग का पारावार उँड़ेल दिया। सभी लोग अपने-अपने पौरुष, संकल्प और कृतित्व की भीतर ही भीतर परख करने लगे और गौतम की इस नयी कसौटी पर खरे उतरने की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए कभी-कभी निराश होनेवाले मन को झकझोरने लगे। श्वेतकेतु का पौरुष पूर्ण प्रबुद्ध हो गया, सत्यसंकल्प और सच्ची लगन की उमगें उसमें भी उठ पड़ीं, वह अपने को सँभाल नहीं सका और तुरन्त ही मृदंग के समान मधुर गम्भीर स्वर में बोल पड़ा—'पूज्य तात! मेरा अज्ञान दूर हुआ, मुझमें अब इतनी शक्ति आ गई है कि मैं इस संसार में कुछ भी अकरणीय और कुछ भी अगम्य नहीं मान रहा हूँ। आपकी कृपा से अब दुर्गम हिमवान् के शिखर और दुस्तर समुद्र की भीषण लहरें भी मुझे अपने कर्त्तव्य पथ से कभी विचलित नहीं कर सकेंगी।'

महात्मा आरुणि के इस उपदेशामृत का पान कर उस दिन की जन-मण्डली अपने-अपने कर्त्तव्यों पर लौटने को समुद्यत हो गई। उधर

आकाश में भगवान् भास्कर की किरणें पश्चिम क्षितिज में जाने कहाँ विलीन होने लगीं और पश्चिम के आकाश-मण्डल की नीलिमा में प्रकाश उत्पन्न होने लगा। यह पावन बेला ऋषिकुमारों की सन्ध्या करने की थी। सभी शिर झुकाकर विदा हुए। इधर ग्रामीण गृहस्थ जन अपने घर लौटते समय एक अपूर्व उत्साह-समुद्र में डूब रहे थे और उधर शिष्यगण गुरु के प्रत्येक वचन पर अपनी-अपनी धारणा की पुट दे रहे थे। कोई महान् पण्डित बनने की धुन में समस्त शास्त्रों को मुखस्थ करने का संकल्प कर रहा था तो कोई अपने भावी शिष्यों की भारी भीड़ का सुख-स्वप्न देख रहा था। स्वेतकेतु की मनोदशा अति विचित्र थी। वह अपनी आदर्श गृहस्थी को बसाकर अपने पिता के वचन को अक्षरश: सत्य करने में उलझा हुआ था।

× × ×

वह रात बीती। नये उत्साह और उमंग को लेकर भास्कर पूर्व क्षितिज को लाल करता हुआ फिर उदित हुआ। उसकी पावन प्रभात-मगल-किरणें वृक्षों के शिरों से उतर कर आश्रम की पवित्र भूमि का रज-स्पर्श करने लगी। सभी शिष्यगण सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्त होकर अपने पाठ को मुखस्थ करने में लग गये और ब्रह्मचारी श्वेतकेतु अपने कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने का शुभाशीर्वाद ग्रहण करने के लिए पिता के समीप पहुँचा। उस समय वह अपने कुछ शिष्यों को पढ़ा रहे थे। श्वेतकेतु ने जाकर पिता के चरणों की धूलि अपने मस्तक पर लगाई और विनीत स्वर में कहा—'तात! मैं धन-अर्जन के लिए यात्रा पर जा रहा हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिए और कुछ दिनो की मेरी अनुपस्थिति क्षमा कीजिए।'

श्वेतकेतु ने मुसकराते हुए दाहिने हाथ को उठा कर कहा—'प्रिय वत्स! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो और तुम्हारा मार्ग मगलमय हो। पर वत्स! इस बात का सदा ध्यान रखना कि कहीं भूल कर भी गर्व मत प्रकट करना। मन और वचन में भी गर्व का अंकुर विनाश

का फल देता है। जाओ, तुम्हारी कामनाओं को सफलता मिले।'

श्वेतकेतु अपने पिता के चरणों पर फिर शीश रखकर विदा हुआ। उसके प्यारे साथियों ने उसे दूर तक हास-परिहास की बातें करते हुए पहुँचाया, और उसकी ममतामयी जननी बड़ी देर तक उसके पथ पर स्नेह-भरे नेत्रों को बिछाती खड़ी रहीं। वह पथ पर आगे बढ़ता गया, उत्साह और उमंग की लहरों पर बढ़ते हुए उसे दूरी का पता नहीं लग रहा था। इसी तरह न तो उसे अपने गन्तव्य का अभी तक कोई पता था और न धन अर्जन करने के किसी उपाय की रूप-रेखा ही उसके मानस-पटल पर अंकित हुई थी।

दोपहर होते-होते वह एक ग्राम के बीच से जा रहा था। नये विचारों के उद्भव ने मन की दिशा को मोड़ दिया। उसे इस बात का ध्यान आया कि दोपहर हो गया है। क्यों न इसी ग्राम में कुछ खा-पी कर सुस्ता लूँ और तब आगे बढ़ूँ। और यहीं मुझे यह भी निश्चय कर लेना चाहिए कि कहाँ चलना है और किस उपाय से धन अर्जन करना है? आखिर कब तक इस प्रकार चलता रहूँगा?

ग्राम के बीच में बसे हुए एक गृहस्थ के द्वार से कुछ दूर पर उसने दोपहर का पाथेय ग्रहण किया और एक सघन छायादार वट वृक्ष के नीचे आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के विचार से लेट गया। उस समय वसन्त का सूर्य मध्य आकाश में था, चारों ओर दूर तक कोई वृक्ष न होने के कारण चमकती हुई धूप जमीन पर फैल रही थी। ऊपर अनेक पक्षीगण चहचहा रहे थे और नीचे जमीन पर उठँगा हुआ श्वेतकेतु अपने पथ-निर्धारण में उलझा हुआ था। उसे अभी तक निश्चय पर भी पहुँचने का मौका नहीं लगा था कि आज शाम को कहाँ ठहरना होगा। उसे अपनी यह भूल मालूम हुई कि क्यों न पिता जी से ही इस विषय में सम्मति ले ली। वे अवश्य कोई उपाय बताये होते। देर तक वह इसी समस्या के सुलझाने में उलझा रहा पर कोई निश्चित हल उसे नहीं मिला। कभी किसी राजा के

समीप जाकर धन माँगने का विचार होता तो कभी उसका स्वाभिमानी मन किसी के सामने याचना करने में अपमान को मृत्यु के समान मान कर मुकर जाता। उस समय आज कल की भाँति व्यापार अथवा किसी अन्य उपाय से धन अर्जन करने की छूट ब्राह्मणों के लिए नहीं थीं, इसलिए इस दिशा में उसके पुरुषार्थी मन को कोई शरण क्यों मिलती? इसी उधेड़-बुन में पड़े-पड़े उसकी आँखें अपने आप मुँद गईं, मन ने थक कर बाह्य इन्द्रियों को समेट लिया और वह उसी वृक्ष की सघन छाया में सो गया। इस थोड़ी ही देर में बाहरी संसार से सम्पर्क तोड़कर उसके अभिमानी मन ने अर्न्तजगत् मे कर्मजाल बुनना प्रारम्भ कर दिया था, पर बेचारे श्वेतकेतु को स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिली, वह चिंतातुर होकर उसमें भी दौड़ता ही रहा।

दिन ढलने लगा। सूर्य की किरणें थककर पश्चिम की ओर बढ़ने लगीं और श्वेतकेतु उसी तरह सोता रहा। वृक्ष के झुटपुटे से छनकर धूप का एक छोटा-सा खण्ड उसके मुखमण्डल पर पड़ने लगा। मानों सूर्य उसे जगाकर कर्त्तव्य-पथ पर चलने का संकेत कर रहे थे। पर श्वेतकेतु तब भी नही जगा क्योंकि उस समय वह अन्तर्जगत में एक द्वन्द्व का दृश्य देख रहा था। याचना को हीन मानकर वह शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके अपनी पूजा कराना चाहता था, और इसी विचार से एक राजा को भी सभा में वह प्रतिवादी पण्डितों को ललकार-रहा था। भीतर से मनोभाव के तीव्र आघात और बाहर से मुख पर पड़ने वाले धूप-खण्ड के उत्ताप को उसकी आँखें देर तक नही सहन कर सकीं और वह आँखें मींचता हुआ उठ बैठा। सामने देखा तो दो-तीन पथिक उसी की तरह वहाँ उठँग कर अपनी ताप-शान्ति कर रहे हैं और सूर्य पश्चिम की ओर धीरे-धीरे झुकता चला जा रहा है। आन्तरिक सघर्ष से उसके मुख की शोभा कुछ प्रदीप्त हो उठी थी, आँखें एक दम लाल थीं और मुखमण्डल पर रोष की रेखा अब भी खिची हुई थी। प्रतिवादी के तर्क को खण्डित करने की स्वप्न की लालसा अभी बाह्यजगत् में

भी प्रबुद्ध थी, पर वहाँ न तो वह राजा की सभा थी और न वे प्रतिवादी पण्डित ही थे। थोड़ी देर तक वह चुपचाप ऊपर वट के नव किसलयों में आँखों को उलझाए हुए स्वप्न की बातों का स्मरण करता रहा। पर बालू की भीत की तरह केवल यही आखिरी बात उसकी स्मृति की पकड़ में शेष रह गई कि एक राजा की पण्डित-सभा में उसने शास्त्रार्थ किया था। निराश श्वेतकेतु को स्वप्न के इस अतीत दृश्य से बड़ी प्रेरणा मिली। उसने यह निश्चय पक्का कर लिया कि किसी राजा की सभा में चल कर अपनी विद्वत्ता प्रकट करनी चाहिए और वहीं से धन-प्राप्ति अपने आप हो जायगी। विद्या का इससे सुन्दर फल क्या होगा?

इस नव संकल्प का विचार करते ही उसके शरीर में एक विद्युत्किरण-सी फैल गई और झटपट उठकर खड़ा हो गया और अपने सामान को बाँध-बूँध कर आगे चलने की तैयारी में लग गया। वटवृक्ष के नीचे लेटे हुए एक दूसरे पथिक को नवयुवक श्वेतकेतु की इस प्रवृत्ति में कुछ कुतूहल हुआ। उसने आदर भरे स्वर में पूछा—'नवयुवक! तुम कहाँ जाओगे, तुम्हारी त्वरा से मालूम पड़ता है कि तुम्हें कहीं बहुत दूर जाना है और यहाँ सो जाने के कारण तुम्हारे समय की हानि हुई!'

श्वेतकेतु ने स्वाभाविक स्वर में उत्तर दिया—'महानुभाव! मुझे अभी तक स्वयं यह नहीं विदित है कि मुझे कहाँ जाना है? पर हाँ, यह सत्य है कि यहाँ सो जाने से मेरा बहुत-सा समय व्यर्थ ही बीत गया।'

पथिक का कूतूहल अधिक बढ़ा। उसे इस बात पर सहसा विश्वास नहीं हो सका कि गंतव्य का ज्ञान न रखनेवाला भी अपने पथ पर इतना जागरूक है। उसने फिर स्नेह भरे स्वर में कहा—'नवयुवक! क्या मुझे यह बतला सकते हो कि विना गन्तव्य निश्चित किए हुए तुम आज कहाँ जाओगे और इस तरह से तुरन्त उठकर खड़े होने की तथा चल देने की त्वरा तुम्हें क्यों है?'

श्वेतकेतु ने सहज स्वर में कहा—'महानुभाव ! मुझे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए धन को आवश्यकता है और मैं किसी विद्वान् राजा की राज-सभा में अपनी विद्वत्ता प्रकट कर धन लेना चाहता हूँ। क्या आप इस कार्य में मेरी कुछ सहायता कर सकेंगे ?'

पथिक को नवयुवक श्वेतकेतु की निर्विकार बातों में उसके सत्संकल्प, शुभ विचार और सच्ची लगन की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ी। वह सान्त्वना भरे स्वर में बोला—'नवयुवक ! मैं इस कार्य में तुम्हारी भरपूर सहायता कर सकता हूँ। तुम रुको और मेरे साथ चलो। तुम्हारी गृहस्थी बसाने का मैं पूर्ण प्रबन्ध करूंगा। मैं बहुत थक गया हूँ, तनिक देर और सुस्ता लो और मेरे साथ ही चलो। मैं आज पन्द्रह दिनों से लगातार चल रहा हूँ, इसी से बहुत थका हूँ। मेरा घर अब समीप आ गया है, तुम आज यहीं रुको और कल किसी राजा के यहाँ जाओ।'

श्वेतकेतु रुक गया। सामान नीचे रखकर स्थिर भाव से वह बैठ गया। और थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोला—'महानुभाव ! क्या मुझे आप किसी विद्वान् और गुणज्ञ राजा का पता बतलाएँगे ?'

पथिक ने कहा—'नवयुवक ! क्या तुमने अभी तक पांचाल देश की समिति के अध्यक्ष प्रवाहण जैबलि का नाम नहीं सुना है, उनकी अन्तरंग परिषद् में पाँच सौ मूर्धन्य पण्डित विराजमान होते है। प्रवाहण की विद्वत्ता की चर्चा समुद्र पार तक चली गई है, मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम उन्हे अभी तक नहीं जानते हो।'

श्वेतकेतु ने स्पष्ट स्वर में कहा—'महानुभाव ! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मैंने अभी दो मास के करीब हुए अपने गुरु के आश्रम से दीक्षा ग्रहण कर अपने पिता के आश्रम में प्रवेश किया है। लौकिक जानकारियाँ मुझे बिल्कुल नहीं हैं, अभी तक तो मैं केवल शास्त्रों के चिन्तन में लगा हुआ था। मेरी अज्ञता क्षन्तव्य है। प्रवाहण जैबलि की विद्वत्परिषद् में मैं एक दिन अवश्य सम्मिलित होऊँगा।'

\+ \+ \+

प्रौढ़ पथिक के घर रात बिताकर श्वेतकेतु अगले दिन पांचाल देश के पथ पर बढ़ता हुआ प्रवाहण जैबलि के नगर की ओर चल पड़ा। मार्ग भर में वह प्रतिवादी पण्डितों को परास्त करने की विविध युक्तियाँ सोचता रहा और प्रवाहण जैबलि को अपनी विद्वत्ता पर विमुग्ध करने का शुभ स्वप्न देखता रहा। कभी साथी पथिक की सुजनता और अतिथि-सेवा पर मुग्ध होता और कभी विदा करते समय लौटते हुए इसी मार्ग से आने की उसकी विनीत प्रार्थना का अर्थ लगाता। उसकी कल्पनाओं में चारों ओर रंगीनी थी और कोमलता तथा सुकुमारता का साम्राज्य फैला हुआ था। साथी पथिक का यह आश्वासन उसे असीम आनन्द देता कि वह उसकी गृहस्थी बसाने में पूरी सहायता करेगा। इस प्रकार विचारों के प्रवाह तथा संकल्प-विकल्प के थपेड़ों में पड़ कर वह अपने पथ पर आगे बढ़ता रहा। कई दिन बीते, कितनी रातें गईं पर उसे न तो थकावट थी और न धूप-छाँह का कोई खास ख्याल था। सूर्य की तरह बहुत सबेरे वह भी उठता और नित्य कर्म से निवृत्त हो दिन भर तक चल लेने के बाद किसी गाँव में ठहर जाता। पथ की सभी चीज़ें उसके सामने आतीं और चली जातीं पर उसके लिए न तो उसने कभी कुछ सोचा और न कभी कुछ सोचने की जरूरत ही समझी। इस तरह धीरे-धीरे उसके सत्संकल्प और सच्ची लगन की एक साधना पूरी हुई, जब उसके बिना थके हुए पदों और उत्सुक नेत्रों के सामने पांचाल देश की समिति के अध्यक्ष प्रवाहण जैबलि का राजभवन दिखाई पड़ने लगा। इतनी दूर पैदल चलने के बाद भी न वह थका हुआ था और न अभी तक उसकी उत्सुकता में कोई अन्तर आया था। राजधानी में पहुँच कर उसने द्वारपाल को अपने नाम की सूचना दी और बताया कि 'विद्वत्परिषद् का कार्य जब प्रारम्भ हो तो मुझे भी बुलाये जाने की वह व्यवस्था कर दे।'

के समान अन्तर्मन की सभी गाँठों से मुक्त होकर अमर पद को प्राप्त करता है।

"हे वत्स! यह परम गोपनीय ब्रह्म विद्या जैसे तैसे, ऐरे गैरे लोगों को नही बताई जाती। तुम्हारी तरह सभी कर्मानुष्ठानों से अपने चित्त को जो ब्रह्म-विद्या-लाभ के योग बना लेता है, उसी को बताई जाती है। मैंने तुम्हे इस परम रहस्य का उपयुक्त पात्र समझकर उपदेश दिया है। बेटा! इसकी भरसक रक्षा करना। तुम्हारा कल्याण हो। मैं उन परम ऋषियों को नमस्कार करता हूँ, जिनकी अमोघ कृपा से मुझे उसकी प्राप्ति हुई है।'

शौनक भक्ति-विह्वल होकर अंगिरा के पैरों पर अंजलि बाँधकर गिर पड़ा, हृदय के आनन्द की अधिकता से उसका गला रुँध गया, बड़े-बड़े नेत्रों में जल के कण छलक आए, मुखमण्डल लाल हो गया और रोमावलि खड़ी हो गयी। थोड़ी देर तक वह इसी तरह आनन्द-समुद्र में डुबकियाँ लगाता रहा, अंगिरा ने उठाकर उसे गले से लगा लिया और फिर मुसकराते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो।'

\+ \+ \+

दूसरे दिन प्रातः काल अंगिरा से विदा लेकर शौनक भक्ति-समेत अपने घर की ओर चल पड़ा। ब्रह्मज्ञान के शुभ्र प्रकाश से उसका अन्तःस्थल आलोकित हो गया था। वन्य प्रकृति की सुखदायिनी छटा देखते हुए वह कब त्रिगर्त पहुंच गया, इसका ज्ञान उसे तब हुआ जब लोग आ-आकर उसे प्रणाम करने लगे, कुशल प्रश्न पूछने लगे और उसके भवन की दीवारें दिखाई पड़ने लगीं।

योग्य क्या सेवा है?'

श्वेतकेतु ने अपने सहज स्वर में कहा—'राजन् ! मैं आप की विद्वत्परिषद् की चर्चा सुनकर यहाँ आया हुआ हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आप की पण्डित-मण्डली के साथ कुछ शास्त्रीय विवेचन करूँ और आप मध्यस्थ रहें।'

राजा ने कुछ देर तक चुप रहने के बाद विनीत स्वर में कहा—'मुनिकुमार ! मुझमें आप जैसे विद्वानों के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ होने की क्षमता नहीं है, पर मैं स्वयं आप की विद्वत्ता का नमूना देखना चाहता हूँ। आप ने किन-किन शास्त्रों का अध्ययन किया है ? मैं आप के पूज्य गुरुदेव और पितृदेव का नाम सुनना चाहता हूँ।'

श्वेतकेतु ने कहा—'मैंने सभी शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया है, मेरे गुरुदेव पूज्यचरण भरद्वाज ऋषि हैं और मेरे पूज्य पिता गौतम कुलोत्पन्न महात्मा आरुणि हैं। मैं अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए ही आप के समीप आया हूँ। क्योंकि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए मुझे धन की आवश्यकता है; पर मैं किसी से याचना नहीं करना चाहता।'

राज ने कहा—'मुनिकुमार! आपके पूज्य आचार्य और पितृदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। उनकी विद्वता और ब्रह्मनिष्ठा की चर्चा मेरे कानों में आ चुकी है पर उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे अभी तक नहीं मिल सका है। अच्छा हुआ जो उनके प्रतिरूप में आपके दर्शन का सौभाग्य मुझे अनायास मिल गया। पर मुनिकुमार ! मैं यह नहीं चाहता कि आप धन के लिए अपनी विद्या का प्रयोग करें आपको जितने धन की आवश्यकता हो उसे मैं स्वयं आपकी सेवा में अर्पित करने को तैयार हूँ। यदि आप शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो फिर कभी आइएगा, इस बार केवल धन ले जाकर अपनी गृहस्थी बसा लें।'

श्वेतकेतु का स्वाभिमान जग पड़ा। वह रुक्ष स्वर में बोला—'राजन् ! मैं धन की याचना करने नहीं आया हूँ। आपको विद्वत्परिषद्

में उपस्थित होकर आपकी पण्डित-मण्डली का ज्ञान-गौरव आँकने की मेरी इच्छा है ।आप धन दें या न इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। पर मैं यह पसन्द नहो करता कि आप मुझे शास्त्रार्थ के अवसर से वंचित कर दें।'

राजा श्वेतकेतु ने गम्भीर स्वर में कहा—'ऋषिकुमार ! मैं आप से कुछ प्रश्न करूँगा यदि आप मेरे प्रश्नों का उत्तर दे देगे तो मैं समझूँगा कि मेरो विद्वत्परिषद् में शास्त्रार्थ करने की क्षमता आप में है, अन्यथा अपने पण्डितों का अपमान मुझे सह्य नहीं होगा ।'

श्वेतकेतु ने कहा—'राजन् ! मैं सावधान हूँ, आप जो भी प्रश्न पूछना चाहे पूछ सकते है।'

राजा ने कहा—'ऋषिकुमार ! आज आप विश्राम ग्रहण करें, कल प्रातःकाल मैं आपका दर्शन करूँगा।'

पुरोहितों-समेत राजा चला गया। श्वेतकेतु राजा की अतिथिशाला में अपनो बातों का औचित्य सोचता रहा। कभो उसे अपनी उद्दण्डता पर लज्जा लगती और कभी स्वाभिमान पर सन्तोष होता। धीरे-धीरे रात बोत गई। सवेरा हुआ और श्वेतकेतु नित्यकर्म के बाद राजा के आगमन की उत्सुक प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद राजा प्रवाहण जैबलि सहस्र सुवर्ण मुद्राओं और सहस्र गौओं के साथ अतिथिशाला के समीप दिखाई पड़ा । श्वेतकेतु सहम गया। उसके मन में राजा की उदारता और अपनी उद्दण्डता पर फिर से संघर्ष मच गया।

सुवर्ण मुद्राएँ और गौएँ समर्पित करते हुए राजा ने विनीत स्वर में कहा—'मुनिकुमार ! यदि तुम्हारे पूज्य आचार्य और पिता ने तुम्हें अच्छी तरह शिक्षा दी है तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस लोक से उठकर मनुष्य कहाँ चले जाते हैं ?'

श्वेतकेतु सहस्र सुवर्ण-मुद्राओं की ओर देखते हुए सोचने लगा कि मेरे आचार्य और मेरे पिता ने कभी इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। मैं राजा को क्या उत्तर दूँ ? आखिरकार थोड़ी देर तक ऊपर शून्य

आकाश की ओर ताकने के बाद उसने कहा—'राजन् ! मैं यह नहीं जानता कि इस लोक से उठकर मनुष्य कहाँ चले जाते हैं ? मेरे पूज्य आचार्य तथा पितृदेव ने कभी इस प्रश्न पर मुझे कुछ भी नहीं बतलाया है। कृपया आप कोई दूसरा प्रश्न पूछें।'

राजा प्रवाहण जैबलि ने पूछा--'मुनिकुमार ! क्या तुम यह बतला सकते हो कि इस लोक में मनुष्य फिर कैसे वापस लौट आते हैं ?'

श्वेतकेतु चुप रहा। उसे कभी इस विषय पर भी विचार करने की फुर्सत नहीं मिली थी। थोड़ी देर तक सोचने के बाद उसने विनीत स्वर में फिर वही उत्तर दिया—'राजन् ! मै यह भी नहीं जानता कि इस लोक में मनुष्य फिर कैसे वापस लौट आते हैं !'

राजा का स्वर कुछ उद्‌बुद्ध हो गया। उसने फिर पूछा—'ऋषिकुमार ! देवयान और पितृयान का नाम तुम सुन चुके होगे। मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या तुम उनकी सीमा बतला सकते हो कि वे कहाँ पर किस प्रकार अवस्थित हैं ?'

श्वेतकेतु बिना कुछ सोचे-समझे ही बोल पड़ा—'नही राजन् ! मुझे यह भी नहीं मालूम है।'

राजा ने फिर पूछा—'ऋषिकुमार ! मृत्यु के बाद मनुष्य जिस लोक में जाते हैं, वह अनादि काल से लेकर आज तक असंख्य प्राणियों के प्रतिदिन मरते रहने पर भी क्यों नहीं भर जाता ? क्यों उसमें फिर भी सब के लिए स्थान बना हुआ है ? ऐसी विचित्र चीज क्या कभी तुमने देखी है कि जो कभी भरती ही नहीं ?'

श्वेतकेतु सन्न रह गया। उसे कभी स्वप्न में भी ऐसे टेढ़े-मेढ़े प्रश्न का खयाल नहीं आया था। उसने एक बालक की तरह सरल स्वर में उत्तर दिया—'राजन् ! मैं इस विषय में भी कुछ नहीं बता सकता हूँ !'

तब राजा ने फिर पूछा—'मुनिकुमार ! तुम्हें यज्ञ की सम्पूर्ण विधि

का तो पूरा ज्ञान होगा ।'

श्वेतकेतु ने बिना रुके हुए उत्तर दिया—'हाँ राजन् ! मैं यज्ञ की समस्त विधियों का पूर्ण ज्ञाता हूँ ।'

राजा ने पूछा—'यज्ञ में पंचम आहुति में छोड़े जानेवाले तरल द्रव्यों को 'पुरुष' क्यों कहते हैं ? आखिरकार वह भी तो सब आहुतियों की तरह एक आहुति ही है ! फिर उसके इस नामकरण का क्या कारण है ?'

श्वेतकेतु लज्जा के समुद्र में डूबने-उतराने लगा । विनीत स्वर में बोला—'राजन् ! आप के प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता मुझमें नहीं है, अब कृपाकर मुझसे कुछ भी मत पूछिए !'

राजा ने कहा—'मुनिकुमार ! जब तुम मेरे इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते तो मेरी विद्वत्परिषद् के पण्डितों से शास्त्रार्थ करने की योग्यता तुममें नहीं है । तुमने यह नाहक कहा कि तुम्हारे गुरुदेव और पिता ने तुम्हें भलीभाँति शिक्षा दी हैं । तुम अपने पिता और गुरु की सेवा में फिर जाओ । तुममें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की योग्यता आ चुकी है पर अभी अनुभवहीनता के कारण तुम में बहुत-सी कमी भी है । इस धनराशि और गोधन से अपनी सुखी गृहस्थी का निर्माण करो और जब कभी कोई आवश्यकता पड़े तो फिर इधर चले आना ।'

× × ×

श्वेतकेतु राजा प्रवाहण जैबलि की राजधानी से विदा लेकर अपने पिता के आश्रम की ओर चल पड़ा उसके साथ सहस्र गौएँ थी और उनको पहुँचानेवाले पाँच राजकर्मचारी थे । बीच मार्ग में उसने अपने साथी पथिक के यहाँ आखिरी पड़ाव डाला । पथिक ने अपनी सयानी सुशिक्षिता कन्या को श्वेतकेतु के लिए वरण करके अपनी सारी चिन्ता दूर कर दी और अपने वचन का पूर्ण पालन किया । यहाँ से विदा लेकर वह अपने पिता के आश्रम में पहुँचा । माता, पिता और शिष्य-मण्डली ने श्वेतकेतु का स्वागत-समादर किया । अपनी सुशिक्षित,

सर्वलक्षण सम्पन्न सुन्दरी वधू को देखकर माता ने अपने प्यासे नेत्रों को तृप्त किया और पिता ने अपनी पुत्र की योग्यता और क्षमता पर विश्वास रख भविष्य को निश्चिन्त और निर्बाध होकर बिताने का इरादा पक्का किया। पर अभी तक श्वेतकेतु की मनोव्यथा का किसी को पता नहीं था। वह मन ही मन ग्लानि और लजा से गला जा रहा था।

दूसरे दिन राजकर्मचारियों को बिदा करने के बाद उचित अवसर देख श्वेतकेतु ने अपने पिता से एकान्त में राजा प्रवाहण जैबलि के साथ हुए अपने सारे वार्तालाप को चर्चा करते हुए कहा—'पूज्य तात! आपने विना पूरी शिक्षा दिए ही मुझे गृहस्थाश्रम के योग्य क्यों समझ लिया? राजा ने जो पाँच प्रश्न मुझसे पूछे थे, उनमें किसी का भी उत्तर मैं नहीं दे सका। मुझे तब से अपनी अविद्या पर बड़ी ग्लानि हो गई है। आप के आदेश को अंगीकार कर गृहस्थाश्रम में मैं प्रविष्ट तो हो गया पर जब तक राजा के उक्त प्रश्नों का समाधान करने की क्षमता मुझमें नहीं आ जाती तब तक मैं गृहस्थी के सुख से विमुख रहूँगा।'

इस तरह की निराश बातों को सुनाने के बाद उसने अपने पिता से राजा प्रवाहण जैबलि के उक्त पाँचों प्रश्नों को कह सुनाया।

प्रश्नों को कह सुनकर श्वेतकेतु के पिता गौतम ने कहा—'वत्स! मैं स्वयं इन पाँचों प्रश्नों में किसी का भी समुचित उत्तर नहीं दे सकता। तू दुःखी मत हो, ससार की सारी बातें एक ही व्यक्ति नहीं जान सकता। मैं स्वयं जाकर राजा से इन प्रश्नों का उत्तर जानने की चेष्टा करूँगा, तू तब तक आश्रम की देख-भाल कर और शिष्यों के पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था कर।'

अपने पुत्र श्वेतकेतु से उक्त बातें कर दूसरे दिन प्रातःकाल विना किसी को कुछ बताए ही गौतम राजा प्रवाहण जैबलि के नगर की ओर प्रस्थित हो गया। ज्ञान की उत्कट पिपासा में उस अशक्त वृद्ध

को कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। पन्द्रहवें दिन सायंकाल के समीप वह पांचाल की विद्वत्परिषद् के प्रमुख द्वार पर पहुँच गया और राजा को अपने आगमन की सूचना दी। गुणज्ञ राजा ने गौतम की सब तरह से आवभगत की और दूसरे दिन परिषद् में उपस्थित होने का आमंत्रण दिया।

विद्वत्परिषद् में समुपस्थित गौतम को सादर सम्बोधित कर राजा ने कहा—'महात्मन् ! इस संसार में जो तुम सर्वश्रेष्ठ वस्तु समझते हो मुझसे माँग सकते हो। तुम्हारे जैसे विद्वान् के लिए मेरे निकट कुछ भी अदेय नहीं है।'

गौतम ने कहा—'राजन् ! सांसारिक धन-सम्पति की कामना मुझमें नहीं है, इन्हें आप अपने ही पास रखिए। मैं किसी धन-सम्पति के लाभ से आपके समीप नहीं आया हूँ। आपने मेरे चिरंजीवि कुमार से जो प्रश्न किये थे, मैं उन्हीं का उत्तर जानने के लिए आपके पास आया हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि आपके सिवा उन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने की क्षमता इस धरती पर किसी दूसरे में नहीं है।'

गौतम की बातों में यथार्थता और निःस्पृहता का पुट देखकर राजा को कुछ संकोच हुआ। उसने कुछ देर चुप रहने के बाद कहा—'मुनिवर्य ! आप जिन प्रश्नों का समाधान लेने के लिए मेरे पास आए हैं उनको सचमुच आज तक कोई ब्राह्मण नहीं जानता। इसका पूर्ण-ज्ञान केवल क्षत्रियों को ही रहा है। आप यदि उन्हें जानना चाहते है तो मैं आपको बतऊँगा, पर इसके लिए आपको कुछ दिनों तक मेरे समीप रहना पड़ेगा।'

गौतम सहमत हो गए और राजा की अतिथिशाला में रहकर उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन प्रातःकाल राजा गौतम के समीप पहुँचा, उस समय वह समाधि में लीन थे। थोड़ी देर बाद आँखे खोलने पर राजा को उपस्थित देखकर उन्हे परम प्रसन्नता हुई। राजा ने उपयुक्त अवसर देख

गौतम से कहा—'मुनिवर ! आज मैं आपको अपने अन्तिम प्रश्न का उत्तर बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो । मृत्यु के बाद मनुष्य जिस लोक में पहुँचता है वह अग्नि है । सूर्य उस अग्नि का ईंधन है, उसकी किरणें अग्नि का धुआँ है, दिन उसकी ज्वाला है, चन्द्रमा अंगारा है, और बिखरे नक्षत्र-पुञ्ज उसकी चिनगारियाँ हैं । उस महाग्नि में देवगण अर्थात् इन्द्रियाँ अग्नि के रूप में अपनी श्रद्धा को अर्पित करती हैं । और तब सोम राजा प्रकट होता है । सोमराजा वही सूक्ष्म रूप है जिसे याजक गण मृत्यु के उपरान्त प्राप्त करते हैं ।'

"हे गौतम ! पर्जन्य अर्थात् इन्द्र ही वह अग्नि है, वायु उस अग्नि का इन्धन है, बादल उसका धुआँ है, बिजली उसकी ज्वाला है वज्र उसका अंगारा है, और बादलों का घहराना या गरजना उसकी चिनगारियाँ है । उस अग्नि में देवगण अर्थात् इन्द्रियाँ सोमराजा को आहुति अर्पित करते हैं, जिससे वर्षा होती है । इसी प्रकार हे गौतम ! पृथ्वी ही वह अग्नि है, संवत्सर अर्थात् वर्ष इसके इन्धन है, आकाश उसका धुआँ है, रजनी उसकी ज्वाला है, दिशाएँ उसके अंगारे हैं, और बीच की दिशाएँ उसकी चिनगारियाँ हैं । उस अग्नि में देवगण वर्षा को आहुति देते हैं, जिससे अन्न उत्पन्न होता है !

"हे गौतम ! मनुष्य ही वह अग्नि है, वाणी उसका इन्धन है, साँसें उसका धुआँ है, जीभ उसकी ज्वाला है, आँखें उसके अंगारे हैं, और कान उसकी चिनगारियाँ है, उस आग्नि में देवगण अन्न की आहुति अर्पित करते हैं, जिससे प्रजनन शक्ति उत्पन्न होती है ।

"हे गौतम ! स्त्री ही वह अग्नि है, उसी अग्नि में देवगण प्रजनन शक्ति का हवन करते हैं, जिससे गर्भ की उत्पत्ति होती है । यही मेरे उस प्रश्न का उत्तर है कि 'पाँचवें हवन की तरल आहुति 'पुरुष' क्यों कहलाती है ।' अब कल मैं शेष प्रश्नों का समुचित उत्तर तुम्हें बतलाऊँगा ।'

राजा की उक्त बातें सुन कर गौतम विस्मय-समुद्र में डूबने से

लगे। बड़ी कठिनाई से वह रात बीती और फिर दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर राजा के शुभागमन की प्रतीक्षा करने लगे। अपने समय पर राजा उपस्थित हुआ और थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद कल के प्रसग पर फिर बातें शुरू हो गई। राजा ने कहा—"मुनिवर! प्रायः दस मास तक स्त्री-रूप अग्नि के गर्भ मे रहने के बाद प्राणी जन्म धारण करता है। जन्म लेने के बाद वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार एक परिमित आयु तक जीवन धारण करता है। उसको मृत्यु के बाद उसके पुत्र-पौत्रादि उसके मृतक शरीर को या तो अग्नि में जला देते हैं या जल में डाल देते है या पृथ्वी में गाड़ देते हैं। इस प्रकार पूर्व कही गई इन्हीं अग्नियों में वह समाप्त हो जाता है। उसका जन्म अभी बताए गए अग्नि में आहुति देने के बाद इसी प्रकार होता है और फिर उसी अग्नि में इसी प्रकार समाप्त हो जाता है!

"हे गौतम! जो विद्वान् पुरुष की उत्पत्ति के इस क्रम को जानते है और जंगल में श्रद्धा और तपस्या करते हुए ब्रह्म की उपासना में निरत रहते हैं वे मृत्यु के बाद ज्योतिर्मय लोक में पहुंचते है, वहाँ से दिवस लोक में जाते हैं, वहाँ से शुक्ल पक्ष के लोक में जाते हैं और वहां से उत्तरायण में पहुँचते हैं। फिर उत्तरायण से सवत्सर लोक में पहुँचते है और वहाँ से भास्कर के लोक में जाते हैं। भास्कर लोक के बाद चन्द्रलोक और फिर वहाँ से विद्युल्लोक में पहुंचते है। उस विद्युल्लोक से उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिसमें उन्हे अमानव पुरुष द्वारा सहायता मिलती है। देवयान नामक पथ का यही परिचय है। देवलोक में पहुंचने कामार्ग यही है।

"हे गौतम! इस पथ पर ज्ञान के चिन्तन में लगे रहनेवाले मनुष्य जाते है और देवलोक की प्राप्ति करते है पर जो अज्ञ लोग यज्ञ का आराधन कर अथवा तालाब, कुआँ बावली या बगीचा लगवाकर धर्मशालाएँ बनवाकर या इसी तरह कुछ दूसरे छोटे-मोटे दान-पुण्य के कार्यों

को कर धर्म की उपासना में लगे रहते हैं वे मृत्यु के बाद धुएँ से ढँके हुए अँधेरे पथवाले लोक में पहुँचते हैं। फिर उस धूमलोक से वे रात्रिलोक में जाते हैं और रात्रिलोक से कृष्णपक्ष के लोक में पहुँचते हैं। कृष्णपक्ष-लोक के बाद उन्हें दक्षिणायन लोक को प्राप्ति होती है किन्तु हे गौतम! उस दक्षिणायन लोक में पहुँचकर वे संवत्सर लोक मे नहीं पहुँच पाते बल्कि बीच ही में अवस्थित पितृलोक में पहुंच जाते हैं। पितृलोक से आकाश तथा आकाश से चन्द्रलोक में उनकी पहुँच होती है। यह चन्द्रमा ही सोमराजा है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इस सोमराजा के लोक में पहुंच कर वे देवों का आहार बन जाते हैं अर्थात् देव गण उनका भक्षण कर जाते है। इस प्रकार देवों के उदर में पहुँच कर कुछ समय तक अन्न की भाँति पचते हुए अपने कर्मों के अनुसार निर्धारित अवधि तक वह वहीं निवास करते हैं। उसके बाद फिर वहाँ से आकाश में जाते हैं अर्थात् आकाश में घुल मिलकर रूप रहित हो जाते हैं। आकाश के बाद वे वायु में मिलते हैं और वायु के बाद धुएँ में बदल जाते हैं। धुएँ से बादल रूप में उनकी अवस्थिति हो जाती है। उन बादलों में से वर्षा के रूप में फिर पृथ्वी पर आकर वह बरसते हैं जिससे धान, जौ, गेहूँ, ओषधियों एवं वनस्पतियों आदि की उत्पत्ति होती है। वहाँ उनसे चावल रोटी आदि के खानेवाले व्यक्ति पुष्ट होकर, सन्तानोत्पत्ति करते हैं और एक होकर अनेक को उत्पन्न करते है!

"गौतम! इस प्रकार जिनका आचरण शुद्ध और निःस्वार्थ रहता है वे शीघ्र ही किसी अच्छे वर्ण, गुण एवं शरीर को प्राप्त करते हैं और जो कदाचारी तथा स्वार्थी होते हैं वे ही हीन वर्ण गुण एवं रुग्ण शरीर को प्राप्त करते अथवा सुअर-कुत्ते या चाण्डाल की योनि में जन्म धारण करते हैं। और जो लोग इन दोनों पथों में से किसी का अनुसरण नहीं कर पाते वे बार-बार जन्म लेने और बार बार मरनेवाले प्राणियों के बीच में जन्म लेते हैं। यह तृतीय स्थान

है। यही कारण है कि मृत्यु के बाद प्राणी जिस लोक में भी जाते हैं मरते नहीं, वरन् अपने शुभाशुभ कर्मों के फल का भोग करते ही रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को सदा हीन और अशुभ आचरण से घृणा करनी चाहिए। इसीलिए शास्त्रों में कहा भी गया है कि सोना चुरानेवाले, शराबी, गुरु के घर में अनुचित आचरण करनेवाले, ब्रह्महा अर्थात् ब्रह्मज्ञानी की हत्या करनेवाले—ये चार प्रकार के व्यक्ति अत्यन्त पतित होते हैं और इनके संसर्ग में जो लोग रहते है उनका भी पतन निश्चय ही हो जाता है।

"हे गौतम! मैं तुम्हे पाँचों प्रश्नों का उत्तर भली भाँति बता चुका। अब और क्या जानना या पूछना चाहते हो, बोलो।"

गौतम ने विनीत स्वर में कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'राजन्! आपको कृपा से अब मुझे लौकिक विषयों में जानने की कोई कामना नहीं रही। आपका उपकार मैं कभी भूल नहीं सकता। आपने जिस गोपनीय रहस्य का ज्ञान मुझे कराया है, उसे मैं अन्यत्र नही प्राप्त कर सका था। राजन्! आपका कल्याण हो और अब मुझे अपने आश्रम को वापस जाने की आज्ञा करे।'

दूसरे दिन अपनी परिषद् के समस्त पण्डितों तथा सम्मानित राज-पुरुषों के सामने पांचाल समिति के अध्यक्ष राजा प्रवाहण जैबलि ने मुनिवर गौतम को सम्मानपूर्वक बिदा किया। और बड़े आग्रह से पाँच सौ सुवर्ण मुद्राओं तथा पाँच सौ गौओं का पुरस्कार ग्रहण करने के लिए उन्हें बाध्य किया।

इस प्रकार वृद्धावस्था में अरुण के पुत्र गौतम ने राजा प्रवाहण जैबलि से उक्त विद्या को प्राप्ति की और उसकी दी हुई सुवर्ण मुद्रा तथा गोधन से अपने पुत्र श्वेतकेतु की गृहस्थी को सुसमृद्ध और सुखमय बनाया।

सर्वश्रेष्ठ आकाश

पांचाल देश की प्रजा-समिति के अध्यक्ष प्रवाहण जैबलि की विद्वत्ता की कथा पहले आ चुकी है। यह उसके उच्च ब्रह्मज्ञान को सूचित करनेवाली दूसरी लघु-कथा है। प्रवाहण जैबलि की विद्वत्परिषद् में देश-विदेश के पाँच सौ प्रकाण्ड पंडित सदा बने रहते थे। दोपहर के बाद प्रतिदिन वह पहर भर तक परिषद् की बैठक करता था, जिसमें अनेक शास्त्रीय विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों का भी विवेचन हुआ करता था। राज्य की व्यवस्था में भी उसकी इस विद्वत्परिषद् का पूरा हाथ था। पण्डितों की सम्मति के बिना किसी विवादग्रस्त विषय पर वह निर्णय नहीं करता था। एक प्रकार से उसकी यह विद्वत्परिषद् ही राज-कार्य का भी संचालन करती थी। पण्डित ही उसके मंत्री, सभासद, परमर्शदाता तथा सब कुछ थे।

एक बार एक यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ विवाद उठ खड़ा हुआ। विद्वत्परिषद् के सभी सदस्य उसमें उलझ गए और कई दिनों तक यह विवाद चलता रहा; परन्तु कुछ आखिरी निर्णय नहीं हो सका। प्रवाहण जैबलि का यह साधारण नियम था कि किसी विवाद-ग्रस्त विषय पर स्वयं कभी कोई व्यवस्था तुरन्त ही नहीं देता था। परिषद् के प्रत्येक सदस्य को उस विषय पर बोलने का अधिकार रहता था और जब सब के बोल चुकने के बाद भी वह विषय निर्णीत नहीं हो पाता था तब वह स्वयं कुछ व्यवस्था देता था। संयोग से यह विषय भी ऐसा पेचीदा आ पड़ा कि परिषद् के सभी सदस्यों के अनेक बार लगातार कई दिनों तक बोल चुकने के बाद भी कुछ निर्णय नहीं हो सका कि तथ्य क्या है ? तब आखिरकार निरुपाय होकर राजा ने उस विषय को स्वयं सुलझाने का भार लिया।

विद्वत्परिषद् में उपाध्यक्ष के पद पर दल्भ के पुत्र दाल्भ्य चैकितायन तथा शिलावत के पुत्र शालावत्य शिलक नाम के दो विद्वान् पण्डित

भी थे। राजा ने इस विषय पर निर्णय करने के लिए एक उपसमिति बनाई जिसमें अपने सिवा उक्त दोनों पण्डितों को भी नियुक्त किया। तीनों व्यक्ति शिलक, चैकितायन तथा स्वयं राजा प्रवाहण जैबलि इस विवादग्रस्त विषय पर निर्णय देने के लिए विचारार्थ सभा मण्डप से दूर एक बन्द प्रकोष्ठ में बैठ गए और परस्पर तर्क-वितर्क करने लगे। वास्तव में यह तीनों ही व्यक्ति 'उद्गीथ' के विषय में परम निपुण तथा अनुभवी थे। उद्गीथ कहा जाता है—ओंकार सम्बन्धी कुछ मन्त्रों के समूह को, जिसका विस्तृत प्रकरण सामवेद में आया है।

उपसमिति की बैठक में तीनों विद्वानों ने विवादग्रस्त विषय पर विवेचन प्रारंभ करते हुए परस्पर बताया कि हम में से तीनों ही इस विषय के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते हैं। अच्छा यह होगा कि हममें से एक-एक क्रमशः अपने-अपने विचारों को प्रकट करे।

राजा प्रवाहण जैबलि ने विनीत स्वर में कहा—'महानुभाव! हम क्षत्रियजन्मा है, आप श्रद्धेय ब्राह्मणजन्मा हैं और हमारे कुल पूज्य हैं। इसलिए यह अच्छा होगा कि आप दोनों उद्गीथ की चर्चा प्रारंभ करें और मैं श्रद्धापूर्वक उनको श्रवण करता चलूं। आप लोगों के सामने मुझे विवाद में पड़ना उचित नहीं प्रतीत होता।'

शिलावत का पुत्र शिलक ब्रह्मज्ञानी और प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी कुछ उद्धत स्वभाव तथा अभिमानी प्रकृति का विद्वान् था। उसने मुसकराते हुए कहा—'राजन्! आपका कहना ठीक है, आप केवल सुनते भर रहें और हम दोनों उक्त विषय में अपनी मान्यताएँ प्रकट करें।'

दल्भ के पुत्र चैकितायन ने भी कुछ सहमते स्वर में राजा की बात का अनुमोदन करते हुए कहा—'ठीक है, जब हम दोनों विद्यमान हैं तो श्रीमान् को इस विवाद में पड़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।'

राजा चुप होकर दोनों ब्राह्मण-पण्डितों का मुंह ताकने लगा।

थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद आकाश की ओर देखते हुए शिलक ने चैकितायन से कहा—'आर्य ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं कुछ प्रश्न आप से करूँ। इस तरह प्रश्न और उत्तर में ही सब विषय स्पष्ट होता जायगा।'

चैकितायन ने कहा—'शिलक ! तुम प्रसन्नता से मुझसे उद्गीथ के विषय में कुछ पूछ सकते हो।'

शिलक ने थोड़ी देर चुप रह कर पूछा—'महानुभाव दाल्भ्य ! मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि साम की जाति क्या है ?'

चैकितायन ने बिना रुके हुए प्रबुद्ध स्वर में कहा—'स्वर।'

'अच्छा तो उस स्वर की गति क्या है ?' शिलक ने कुछ रुक कर पूछा।

चैकितायन ने फिर उसी प्रकार उत्तर दिया—'क्या यह भी मुझे बतलाना होगा कि स्वर की गति प्राण वायु है।'

शिलक ने कुछ शीघ्रता प्रकट करते हुए कहा—'महानुभाव दाल्भ्य ! मुझे भी यह ज्ञात है कि स्वर की गति प्राण वायु है, पर मेरे पूछने का आशय यह है कि उस प्राण का आधार क्या है ?'

चैकितायन ने तनिक रुककर उत्तर दिया—'आर्य शिलक ! उस प्राण का आधार अन्न वा भोजन है। क्योंकि उसके बिना प्राण की रक्षा कथमपि नहीं हो सकती !'

शिलक ने कुछ देर तक चुप रहकर फिर पूछा—'महानुभाव दाल्भ्य ! आपने यह ठीक बताया कि प्राण का आधार 'अन्न वा भोजन है पर मैं साथ ही यह भी जानना चाहता हूँ कि अन्न का आधार क्या है ?'

चैकितायन ने प्रवाहण जैबलि की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—'राजन् ! हमारे मित्र को यही नहीं मालूम है कि अन्न का आधार क्या है ? इस बात को तो एक मामूली कृषक भी जानता होगा कि अन्न का आधार जल है। बिना जल के अन्न की सत्ता नहीं रह सकती।'

प्रवाहण जैबलि ने मुसकराते हुए कहा—'महानुभाव दाल्भ्य ! तत्त्व-विनिर्णय में प्रतिवादी की बातों का उत्तर देना धर्म है, उसके तर्क का मखौल उड़ाना अनुचित है। बात मामूली हो या बड़े महत्त्व की हो जो कुछ वह पूछ रहे हैं उसका उत्तर दीजिए।'

शिलक ने मुसकराते हुए दाहिना हाथ उठाकर तनिक प्रदीप्त स्वर में कहा—'आर्य दाल्भ्य ! मुझे भी यह ज्ञात है कि अन्न का आधार क्या है, और सचमुच यह बात बहुत मामूली है; पर मेरे पूछने का केवल यही तात्पर्य नहीं है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि उस जल का आधार क्या है?'

शिलक की इस बात को सुनकर चैकितायन तनिक गम्भीर होकर आकाश की ओर ताकने लगे और प्रवाहण जैबलि ने अपने सिर को नीचे कर लिया। थोड़ी देर तक उस प्रकोष्ठ में निस्तब्धता छाई रही। थोड़ी देर बाद चैकितायन ने शिलक की ओर ताकते हुए कुछ गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—'महानुभाव शिलक ! मैं उस जल का आधार उसी स्वर्ग लोक को मानता हूँ। मुझे ज्ञात है कि अनेक लोगों की समझ में मेरी यह बात नहीं आएगी और अनेक विद्वान् मेरे इस मत से सहमत भी सम्भवतः न हों पर मैं अपनी बात को सत्य सिद्ध करने का दावा रखता हूँ।'

चैकितायन-दाल्भ्य की इस निश्चय भरी वाणी को सुनकर प्रवाहण जैबलि ने जमीन से आँखें उठाकर आसमान मे लगा दीं और शालावत्य-शिलक कुछ विस्मयभरी चेष्टा में थोड़ी देर तक दाहिनी ओर ताकता रहा। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद चैकितायन ने फिर कहा—'आर्य शिलक ! क्या आपको मेरी इस बात पर कुछ सन्देह है, यदि ऐसी बात हो तो मैं इसे सत्य सिद्ध कर सकता हूँ।'

प्रवाहण जैबलि ने विनीत स्वर में कहा—'महानुभाव ! आपका उत्तर ठीक हो सकता है।'

शालावत्य शिलक थोड़ी देर चुप बने रहे और फिर चैकितायन

दाल्भ्य की ओर दाहिना हाथ उठाकर निश्चय भरे स्वर में बोले—'तात दाल्भ्य ! उस स्वर्ग लोक का आश्रम क्या है, मैं इस बात को भी आपसे जानना चाहता हूँ ?'

चैकितायन चुप हो गये। प्रवाहण जैबलि ने मुसकराते हुए कहा—'आर्य शिलक ! आपका यह प्रश्न बहुत सामयिक और सीधा हुआ।'

थोड़ी देर तक सारे प्रकोष्ठ मे नीरवता छाई रही। चैकितायन चुपचाप भीत पर बने हुए चित्रों को निरखते रहे। फिर ऊबते हुए स्वर में शालावत्य शिलक ने पूछा—'महानुभाव दाल्भ्य ! आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर क्यों नही दे रहे ?'

चैकितायन दाल्भ्य ने कहा—'आर्य शिलक ! हमें स्वर्ग लोक से आगे नहीं बढ़ना चाहिए।'

शालावत्य शिलक ने विस्मय भरे स्वर में कहा—'आर्य दाल्भ्य ! मै आपकी इस बात का कुछ प्रयोजन ठीक से नहीं समझ रहा हूँ।'

चैकितायन दाल्भ्य ने कहा—'महानुभाव शिलक ! हम जिस साम की विवेचना करने के लिए यहाँ बैठे है, उसका संस्थापन भी उसी स्वर्ग पर हुआ है। वह स्वर्ग ही सब का आधार है। हम सभी उस साम की उपासना स्वर्ग ही के रूप में करते है। इस तर्क को हमें स्वर्ग से आगे बढ़ाने का कोई कारण नहीं दीखता। वही हमारी स्थिति और गति की चरम सीमा है।'

चैकितायन की बाते सुन कर प्रवाहण जैबलि कुछ विस्मित मुद्रा में शिलक की ओर ताकने लगे और शिलक मुसकराते हुए विनम्र स्वर में बोले—'महानुभाव दाल्भ्य ! आप ने साम की जो प्रशंसा बतलायी है उससे तो मुझे यही अवगत हो रहा है कि आप साम को अप्रतिष्ठित बना रहे हैं। शास्त्र-चिन्तन में हमें उसको प्रतिष्ठा की रक्षा भी करनी चाहिए।'

चैकितायन दाल्भ्य को शिलक की बातें कुछ अटपटी-सी लगीं। वह प्रबुद्ध स्वर में क्षोभ प्रकट करते हुए बोले—'आर्य शिलक ! आप

जैसे विद्वान् को ऐसी बेतुकी बात नहीं करनी चाहिए। मैं नहीं जानता कि मेरे शब्द से साम की अप्रतिष्ठा व्यक्त हुई है। मैं तो स्वप्न में भी साम की अप्रतिष्ठा कभी नहीं करता, यह आपका अपना विचार होगा। हमें गम्भीरता मे इतना शून्य नहीं हो जाना चाहिए।'

दाल्भ्य की क्षोभ भरी बातों को सुन कर प्रवाहण जैबलि ने आँखों को शिलक की ओर फेर लिया। और शिलक मुसकराते हुए फिर बोले—'महानुभाव दाल्भ्य! मैंने किसी दुर्भावना से प्रेरित होकर यह बात नहीं कही है कि आप साम की अप्रतिष्ठा कर रहे है। मेरे कहने का तात्पर्य आप समझ नहीं सके हैं।

दाल्भ्य ने कहा—'महानुभाव शिलक! मैं अपनी समझ को पहचानता हूँ।'

शिलक बोले—'आर्य दाल्भ्य! आप दुर्भाव दूर कर मेरी बात समझने की कोशिश करें। मेरा तात्पर्य यह है कि आप साम को जिस स्वर्ग लोक से प्रतिष्ठित करना चाहते है, ऐसी बात कभी सम्भव नहीं हो सकती। किसी वस्तु की अतिशय महत्ता और उसके सबंध की कोरी ऊँची कल्पना भी उसकी अप्रतिष्ठा है।'

दाल्भ्य बीच ही में बोल पड़े—'आर्य शिलक! आप स्वयं साम की अप्रतिष्ठा कर रहे हैं। क्या आप साम की इस शक्ति में विश्वास नहीं रखते?'

शालावत्य शिलक ने प्रवाहण जैबलि की ओर देखते हुए कहा—'महानुभाव! यदि आपके कथनानुसार सचमुच साम इतना अधिक महिमायुक्त होता तो उसका जाननेवाला भी महान् शक्तिशाली एवं महिमामय होता।'

दाल्भ्य ने बीच में टोंकते हुए कहा—'महानुभाव! क्या आप साम के जाननेवाले की शक्ति में इतना अविश्वास रखते हैं।'

शालावत्य शिलक ने कहा—'तात! मेरा अविश्वास कैसे आप ने जाना? यह अवश्य है कि मैं वैसा घोर अन्धविश्वास भी नहीं करता

जैसा कि आप करते होंगे। यदि साम की ऐसी शक्ति होती तो उसका ज्ञाता यदि किसी को यह कह देता कि 'तेरा शिर धड़ से अभी अलग हो जायगा' तो सचमुच उसका शिर तुरन्त धड़ से अलग हो जाता। मैं जानना चाहता हूँ कि इतनी शक्ति किस साम जाननेवाले भाग्यशाली पण्डित में है। यदि आप जानते हों तो कृपया मुझे बताएँ, मैं उस महान् महिमामय का दर्शन प्राप्त कर अपने को धन्य मानूँगा।'

शिलक की इन स्पष्ट बातों को सुनकर चैकितायन बगलें झाँकने लगे। उन्हें अपनी भूल-सी कुछ मालूम हुई! विनत स्वर में बोले—'आर्य शिलक! साम के विषय में मेरी मान्यता इतनी ही थी, मैं उसके सम्बन्ध से तर्क को स्वर्ग लोक से आगे तक बढ़ाना नहीं चाहता।'

प्रवाहण जैबलि चुपचाप चैकितायन के उदास मुख की ओर ताकने लगे और शालावत्य शिलक मुसकराते हुए बोले—'तात दाल्भ्य! मैं ऐसा नहीं मानता कि साम के सम्बन्ध में आप के कथनानुसार स्वर्गलोक से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। आप चाहें तो मुझसे इस विषय में और भी पूछ सकते है।'

चैकितायन ने कुछ देर तक चुप रहने के बाद विनम्र स्वर में कहा—'आर्य शिलक! मुझे सचमुच बड़ी प्रसन्नता होगी यदि आप स्वर्गलोक से आगे का रहस्य इस सम्बन्ध में मुझे समझावेंगे। मैं मानता हूँ कि इस पृथ्वीतल पर अपने ही को सब तत्त्वों का एकमात्र जानकार नहीं समझ लेना चाहिए।'

प्रवाहण जैबलि को चैकितायन की इन निश्छल बातों से कुछ प्रसन्नता हुई। मुसकराते हुए विनम्र स्वर में वह बोले—'महानुभाव दाल्भ्य! आपका कथन अभिनन्दनीय है। जानकारी की कोई सीमा नहीं होती और एक ही व्यक्ति संसार की सारी चीजें नहीं जानता।'

शालावत्य शिलक ने चैकितायन दाल्भ्य की ओर इशारा करते हुए कहा—'तात! यदि आप इस सम्बन्ध में आगे कुछ रहस्य और जानना चाहते हैं तो मुझसे प्रश्न कर सकते है।'

चैकितायन दाल्भ्य ने विनीत स्वर में पूछा—'आर्य शिलक ! मैं केवल यही जानना चाहता हूँ कि उस स्वर्गलोक का आश्रय आप क्या मानते हैं ?'

शालावत्य शिलक ने मुसकराते हुए तुरन्त उत्तर दिया—'तात चैकितायन ! मेरी दृष्टि में उस स्वर्गलोक का भी आश्रय-स्थल यह पृथ्वी है।'

चैकितायन दाल्भ्य ने थोडी देर तक चुप रह कर शिलक के उत्तर को अपना सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए फिर प्रश्न किया—'आर्य शिलक ! क्या मुझे कृपा करके यह भी बता सकते है कि इस पृथ्वी का आश्रयस्थल क्या है ?'

दाल्भ्य की बातें सुनकर शिलक की बुद्धि चकराई। उन्हे यह गुमान नहीं था कि तर्क की शृङ्खला इसके बाद भी जायगी। कुछ देर तक भली भाँति सोचने-विचारने के बाद उन्होंने उत्तर दिया—'तात ! यह पृथ्वी ही सब का आश्रय-स्थल है। हमें इसके आगे नहीं बढ़ना चाहिए। क्या आप को यह नहीं ज्ञात है कि इसी धरती पर 'साम' भी प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि 'प्रतिष्ठा' कह कर उसकी स्तुति भी की जाती है।'

शालावत्य शिलक की इस तर्क प्रणाली को देखकर चैकितायन दाल्भ्य ने चुप हो जाने में ही अपना कल्याण माना। क्योंकि सचमुच पृथ्वी के आश्रय-स्थल का सच्चा ज्ञान उन्हें भी नही था। पर प्रवाहण जैबलि को शिलक का तर्क पसन्द नहीं आ रहा था। उसने बीच में ही अरुचि प्रकट करते हुए कुछ बोलने का इरादा प्रकट किया पर शिलक अभी बोलते चले जा रहे थे—

'आर्य दाल्भ्य ! मैंने स्वर्ग लोक का आश्रय जो पृथ्वी को बतलाया है, उसका और कारण भी लीजिए। स्वर्ग लोक का निर्वाह मनुष्यों के किए गए यज्ञ, हवन, दान आदि सत्कर्मों के द्वारा होता है। पर उन सब सत्कर्मों का अनुष्ठान वा विधान इसी धरती अर्थात् पृथ्वी लोक पर

ही होता है। इसीलिए श्रुति में भी कहा गया है कि—'पृथ्वी पर रहने वाले ये मनुष्य गण यज्ञ-हवनादि में जो आहुति देते हैं, उसी से स्वर्गस्थ देवताओं की जीविका का निर्वाह होता है।' इसके अतिरिक्त रात-दिन यह तो आप देखते ही हैं कि यह पृथ्वी ही समस्त प्राणियों का आधार-स्थल है। जलचर, थलचर, खेचर सभी जीव-निकाय इसी पर टिके हुए हैं, इसलिए 'साम' का एकमात्र आश्रय-स्थल भी यही है। इसमें विकल्प नहीं समझना चाहिए।'

शालावत्य शिलक की तर्कपूर्ण बातें जब समाप्त हो गईं तो प्रवाहण जैबलि ने धीरे गम्भीर स्वर में पूछा—'महानुभाव शिलक ! आपकी बातें सचमुच तर्कसंगत हुई हैं, पर इस तरह आपने जिस 'साम' का वर्णन किया है, वह आपके कथनानुसार सीमित और सान्त हो जाता है। साम की कोई इयत्ता सचमुच नहीं है, और न उसकी शक्ति की ही कोई सीमा है। जैसा कि आप ने अभी कहा है 'साम' वैसा नहीं है। यदि आप पूर्व रीति से उसे जानते होते तो उसकी अपरिमित शक्ति आप के सामने स्वयं प्रमाणित हो जाती। आपको उसकी महान् शक्ति में अविश्वास करने का अवसर ही न आता। सचमुच 'साम' का सच्चा ज्ञाता यदि किसी को यह कह दे कि 'तेरा शिर धड़ से अलग हो जाए' तो उस व्यक्ति का शिर उसके धड़ से अलग हो जायगा। महानुभाव ! आप 'साम' की इस अद्‌भुत शक्ति में विश्वास करें; मेरी यही प्रार्थना है।'

प्रवाहण जैबलि का मुख-मण्डल इस अन्तिम वाक्य को कहते-कहते रक्तवर्ण का हो गया। आखें एकदम लाल हो गईं और तेजस्वी मुख के दोनों होंठ फड़कने लगे। शालावत्य को ज्ञात हुआ मानों उसका शिर सचमुच धड़ से अलग हो जायगा। उसने विनत स्वर में तुरन्त कहा—'राजन् ! मेरा अपराध क्षमा हो। मैंने सचमुच 'साम' की अवज्ञा की है। अब आप ही 'साम' के यथार्थ तत्त्व को हमें समझाने की कृपा कीजिए और मेरी शंका का समाधान कीजिए।'

प्रवाहण जैबलि ने कुछ आश्वस्त होकर कहा—'आर्य शिलक ! मुझे प्रसन्नता है कि आप 'साम' की महिमा से कुछ अवगत हुए। अच्छी बात है, आप अपनी शंका का समाधान मुझसे ले सकते हैं।'

शालावत्य शिलक ने कहा—'राजन् मैं केवल यही जानना चाहता हूँ कि इस पृथ्वी का आश्रय क्या है ?'

प्रवाहण जैबलि ने स्वाभाविक स्वर में कहा—'आर्य शिलक ! इस पृथ्वी का आश्रय आकाश है। संसार के समस्त लोक और समस्त प्राण इसी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में मिल जाते हैं। यही ब्रह्माण्ड भर में सबसे विशाल और सबसे श्रेष्ठ है। इस परम व्यापक आकाश को परब्रह्म स्वरूप माना गया है।'

प्रवाहण जैबलि की बातों को सुनकर शालावत्य शिलक और चैकितायन दाल्भ्य की 'साम' विषयक सारी शंकाएँ स्वयं निरस्त हो गईं। वे दोनों सुप्रसन्न मन से मुसकराते हुए बोले—'हे राजन् ! सचमुच यह आकाश ब्रह्माण्ड में सब से विशाल, सब से श्रेष्ठ और परम व्यापक है। 'साम' की अवस्थिति भी इसी पर है।'

भृगु को आत्मज्ञान की प्राप्ति

पांचाल देश में एक वरुण नाम के महात्मा ऋषि रहते थे। वह बड़े तपस्वी और संसार से विरक्त रहनेवाले थे। गृहस्थी में रहते हुए भी वह पूर्ण निष्काम थे। अपने समय के अन्य ऋषियों की भाँति उनके पास कोई आश्रम नहीं था जिसमें विद्यार्थी पढ़ते हों और न जीविका-निर्वाह करने के लिए उनके पास गौएँ ही थीं। दिन भर आत्म-साधना में निरत रहकर वे इधर-उधर घूमते फिरते रहते थे और लोगों को शान्ति-सुख और सन्तोष का सच्चा मार्ग बतलाते रहते थे। इस तरह उनका जीवन समाज के हित के लिए एक चलता फिरता तीर्थ था, जिसके वचनामृत में स्नान कर सबके मानसिक शोक-संताप दूर हुआ करते थे।

वरुण की इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति में एक दैवी घटना भी सहायक हुई थी। यौवन के मध्य में उनकी पत्नी का शरीरान्त हो गया था, उस समय उनके इकलौते पुत्र भृगु की अवस्था कुल आठ वर्ष की थी। भृगु को अपने सहपाठी महर्षि उपमन्यु के आश्रम में अध्ययन के लिए पहुँचा कर वरुण अपने निरर्गल जीवन में इस तरह सुख-शान्ति का अनुभव करने लगे थे। दिन भर इधर-उधर घूमकर उपदेश करने के बाद सायंकाल किसी गृहस्थ के द्वार पर वह पहुँच जाते और रात का भोजन ग्रहण कर प्रातः बिना पूछे फिर आगे बढ़ जाते। न उनका कोई खास मित्र था, न स्नेही था। एक साधारण अपरिचित व्यक्ति से उनका जो व्यवहार होता था वही अपने रिश्तेदारों या पुरजन-परिजनों से। मनुष्य मात्र उनके स्नेही थे, पुरजन थे, परिजन थे और आत्मीय थे। अपने पुत्र भृगु के लिए भी उनके मन में कोई आसक्ति नहीं थी और न कोई ममता थी। उपमन्यु के आश्रम में जब कभी अपने भ्रमण के प्रसंग में वह पहुँच जाते तब उसी तरह का स्नेह-भाव भृगु से भी रखते जिस तरह का उसके अन्य सहपाठियों से। इस प्रकार वरुण के इस अलौकिक व्यवहार की चर्चा उस समय भी

लोग करते थे और उनके प्रति हृदय में बहुत सम्मान रखते थे !

उपमन्यु के आश्रम में धीरे-धीरे बालक भृगु सयाना हुआ। शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ उसके शरीर का ढाँचा भी विकसित हुआ और लौकिक व्यवहारों की भी थोड़ी जानकारी उसे हुई। पचीस वर्ष की अवस्था तक उसने सभी शास्त्रों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया और अपने सहपाठियों में सबसे अधिक बुद्धिमान्, क्षमाशील, विनयी, सदाचारी, बलवान् और मृदुभाषी बन कर गुरुजनों का स्नेहभाजन तथा साथियों का परम प्यारा बन गया। उपमन्यु और उनकी सहधर्मिणी (अपनी गुरुपत्नी) से उसने जो सच्चा स्नेह, प्यार और सम्मान पाया, उसमें अपनी बाल-सुलभ कोमल भावनाओं के कारण अपने सगे पिता-माता के प्यार के अभाव को वह भूल गया। उसकी दृष्टि में उपमन्यु ही उसके सगे पिता और वरुण एक संसार से विरक्त रहनेवाले महात्मा थे। वह यद्यपि यह जानता था कि वरुण ही उसके पिता है और उसकी माता बचपन में ही मर गई है पर स्वयं इसे मन में कभी मानता नहीं था। उसके हृदय में, मन में, विचारों में और कार्यों में सर्वत्र और सर्वदा माता-पिता के एकांत अभाव का कभी कोई ख्याल नहीं हुआ, और न कोई ऐसी स्थिति ही आ पाई।

कालक्रम के अनुसार इस तरह भ्रमण कर उपदेश करते-करते महर्षि वरुण वृद्ध हो गए। रात-दिन के अनियमित भ्रमण में खाने-पीने की असुविधा और तपस्या तथा साधना की दृढता के कारण समय के पहले ही उनका बलवान् तथा तेजस्वी शरीर शिथिल हो गया। पहले जहाँ आठ-दस कोस प्रति-दिन चलकर गाँव-गाँव में थोड़ा-बहुत उपदेश भी वह करते रहते थे वहाँ अब चार-छः कोस में ही थकान मालूम होने लगती तथा भीतर से बहुत इच्छा करने पर भी आगे बढने में असमर्थ हो जाते। यौवन की श्यामल केशराशि और श्मश्रु के बीच में चन्द्र खण्ड के समान उनका गौर वर्ण का तेजस्वी मुख-मण्डल सन के समान चारों ओर के सफेद बालों में दाँतों के अभाव से

एकदम पोपला बन गया। मृदङ्ग की तरह उनके सहज घोर-गम्भीर स्वर की मधुरता भी अब नीरस हो चली तथा हृदय में जहाँ स्फूर्ति तथा उत्साह की लहरें दौड़ती रहती थीं वहाँ बुढापे के इस दुर्दम साम्राज्य में विरक्ति और निःस्पृहता की मरुस्थली छाने लगी। वे अब वह सोचने पर विवश हो गए कि कहीं एकात में ठहर कर शॉंत जीवन बिताया जाय क्योंकि इतने दिनों का अनवरत श्रम अब विश्राम माँगता है।

मानव मात्र के सहज सखा महर्षि वरुण की मनोदशा भी उनकी शारीरिक दशा के साथ कुछ शिथिल हो गई। उन्हे अब शात एकांत की तलाश में अपने एकलौते बेटे की याद आई जो यौवन के द्वार पर खड़ा होकर उनकी ओर से अधिक निरपेक्ष हो रहा था। एक दिन बहुत थक जाने पर बिना किसी प्रेरणा के ही एक क्षीण ममत्व-रेखा उनके हृत्पटल पर अनायास खिच गई। परन्तु इधर पाँच-छः वर्षो से वह उपमन्यु के आश्रम में नहीं गए थे और न भृगु का ही कोई समाचार उन्हें मिला था।

ग्रीष्म ऋतु में एक दिन संध्या के समय परिश्रान्त महर्षि वरुण अपने बालसखा उपमन्यु के आश्रम में पहुँचे। उस समय आश्रम के सभी अन्तेवासी सन्ध्या की अग्नि-उपासना में निरत थे। भृगु अपने गुरु के आश्रम से समिधा और कुश लेकर अग्निशाला में प्रविष्ट हो रहा था। दूर से हीं उसने अपने लड़खड़ाते पैरों से आनेवाले म्लानमुख, शिथिलित शरीर वृद्ध पिता को देख लिया। देखते ही उसके सारे शरीर में एक अपूर्व करुणा उमड़ पड़ी। मरुस्थल में अन्तःसलिला की धारा फूट पड़ी। वह अवसन्न हो गया। रक्त के एकत्व ने उसके उपेक्षित हृदय को प्यारे पिता की इस दुःखदायिनी असमय-वृद्धता पर उद्वेलित कर दिया। उसने आज पहली बार देखा कि उसका तेजस्वी परिव्राजक पिता निर्वाणोन्मुख दीपक की भाँति कम्पनयुक्त, निस्तेज और क्षीण हो चला है। थोड़ी देर तक वह यूँ ही खड़ा होकर निरखता रहा कि यह

आगन्तुक उसका प्यारा पिता ही है या कोई दूसरा व्यक्ति। पर धीरे-धीरे समीप पहुँच कर महर्षि वरुण ने अपने पुत्र का सन्देह दूर कर दिया। भृगु को अब यह बतलाने की कोई जरूरत नहीं रही कि उसका वृद्ध पिता आज एक असहाय की भाँति इतने दिनों बाद उसके पास क्यों आ रहा है? वह कुश और समिधा अपने एक साथी को थम्हा कर पिता की ओर दौड़ पड़ा। उसकी रग-रग में ममत्व की एक अद्भुत अपूर्व लहर दौड़ रही थी और करुणापूर्ण आँखों में स्नेह के मोती छलक रहे थे। इतने दिनों तक अवरुद्ध होकर भटकने वाली स्नेह धारा को जो आज सहज-सुगम पथ मिला था तो वह अपने सम्पूर्ण बल-वेग और उत्साह से क्यो न फूट पड़ती? वह दौड़कर अपने पिता के गतिशील चरणों मे बेड़ियों को तरह दोनों हाथों को बाँधकर गिर पड़ा। मानो आज स सचमुच महर्षि वरुण के .सदा चलनेवाले चरणों को गति पुत्र के स्नेहपाश में अवरुद्ध होने वाली थो। वह पहली बार शरीर और मन से उसी जगह खड़े हो गये। चिरवियुक्त पुत्र के कोमल करों के सुखद स्पर्श ने उनको ज्ञान की कठोरता दूर कर दी। उनका समदर्शित्व छूट गया, क्योंकि ससार में इस तरह हाथ बाँध कर उनके अविरत पैरो को रोकने वाला अब तक कोई दूसरा कहीं नही मिला था। वह आर्द्र हो गये क्योंकि स्नेह-जल से उनके धूसरित पैरों को नहलाने वाला कोई नही मिला था। आज बहुत दिनों बाद वह एक ऐसी विचित्र मनःस्थिति में पहुंच गये जहाँ से ऊपर उठने में उनके चिर-विरागी मन को भी व्यायाम करना पड़ा। उनकी आँखों में आसुओं की धारा वह चली और हृदय में कम्पन होने लगा। वृद्धता और असहायता की दुःखद अनुभूति से एकाएक इस तरह व्याकुल हो जाने की बात उन्होंने कभी सोची भी नहीं थी। स्नेह भरे बाहुपाश में भृगु को उठाकर उन्होंने छाती से लगा लिया और थोड़ी देर तक उसी तरह खड़े रहे। गला रुँध गया था और वाणी की सारी शक्ति लुप्त हो गई थी। उनके रिक्त हृदय में कुछ कहने के लिए बाकी नहीं रह गया था। आँखों को

अश्रुधारा और शरीर की पुलकावली उनके वात्सल्य-सरोवर में निमज्जित मन की दशा बतलाने के लिए काफी थी। इस प्रकार थोड़ी ही देर में एक दूसरे से लिपटे हुए पिता और पुत्र के चिरप्रसुत स्नेह-स्रोत फूट पड़े और दोनों ही अपने ज्ञान-गौरव को भुलाकर एक साधारण प्राणी बन गये। आज वरुण भृगु के आराध्य पिता और भृगु वरुण का प्यारा पुत्र बन गया। थोड़ी देर बाद साहस बटोर कर महर्षि वरुण ने अपने को सम्भाला और भृगु के प्रदीप्त मुखमण्डल को अपने आतुर नेत्रों के सामने करते हुए कहा—'वत्स ! इधर बहुत दिनों से मैं यहाँ नहीं आ सका। मेरा शरीर शिथिल हो रहा है और अब पहले की तरह घूमने-फिरने में बहुत कष्ट होता है। मैं इस इच्छा से यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ कि तुम्हारा अध्ययन अब समाप्त हो गया होगा और अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कर मैं अपने जीवन के शेष कर्तव्यों की समाप्ति कर लूँ।'

महर्षि वरुण के अन्तिम वाक्य में मनोव्यथा की इतनी तड़पन थी कि प्रयत्न करने पर भी उनका स्वर विकम्पित हो गया और आँखों से आँसुओं की एक दूसरी रेखा चूकर भृगु के विशाल स्कन्ध को सिक्त करने लगी। वह प्रयत्न करके भी कुछ बोल नहीं सका और साहस करके भी अपने वृद्ध पिता के मुख पर आँखे नहीं कर सका। उसकी तेजस्वी आँखें अपने आप खिंच गईं और वह उसी तरह फिर भी खड़ा रह गया।

वरुण फिर बोले—'वत्स ! तुम्हारे गुरुदेव कहाँ हैं ? इधर बहुत दिनों से मैं उनसे भी नहीं मिल सका, चलो उनके पास चलें। आज सचमुच उनके दर्शन से मुझे कितना सन्तोष और सुख मिलेगा। तुम्हारा सारा दायित्व लेकर उन्होंने मुझे कितना निश्चिन्त बना दिया था, इसे मैं आज समझ रहा हूँ।'

भृगु ने धड़कते हृदय से बड़ी कठिनाई से फटे हुए स्वर में कहा—'तात ! आज ही चर्चा करते हुए आपके बारे में वे बड़ी चिन्ता कर

रहे थे। मुझे तो यह स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि आप इतने ही असमय में इस तरह शरीर से शिथिल हो जायँगे। आज आपके दर्शन से मुझे प्रसन्नता के बदले दुःख हो रहा है।'

वरुण ने प्रसंग बदलते हुए कहा—'वत्स! चलो, उपमन्यु के समीप चलें। आज उनके दर्शन की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।'

भृगु को बाहुपाश से छोड़कर वरुण उपमन्यु के आश्रम की ओर चल पड़े और भृगु उनके पीछे-पीछे अनमना-सा चलने लगा। एक के ज्ञान-विदग्ध हृदय में अज्ञात वात्सल्य की धारा फूट पड़ी थी और दूसरा जीवन में आज पहली बार ममत्व के अन्धकार-भरे कूप में गिरकर बाहर नहीं निकल पा रहा था।

× × ×

उपमन्यु के आश्रम में वरुण दो-तीन महीने तक टिके रहे। अपने जीवन में किसी एक ठौर पर इतने दिनों तक ठहरने का उनका कभी का अभ्यास नहीं था। पर इतने दिनों तक वहाँ रुकने का कारण एक ओर उनके श्रान्त शरीर की असमर्थता थी और दूसरी ओर बाल-सखा उपमन्यु के सात्त्विक स्नेह और उनके शिष्यों की श्रद्धा तथा भक्ति का बन्धन था, जो उन्हें जकड़े हुए था। इसी अवधि में भृगु ने अपना सब कर्त्तव्य सविधि समाप्त किया और उपमन्यु ने एक दिन शुभ मुहूर्त में उसका दीक्षांत समारोह सम्पन्न कर दिया।

दीक्षा के अनन्तर अवभृथ स्नान कर उसने अपने सहज कृपालु गुरु तथा ममतामूर्ति गुरुपत्नी का चरण स्पर्श कर गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त होने का जब आशीर्वाद प्राप्त किया तो अनजाने में ही गुरु के आश्रम से वियुक्त होने की कल्पना ने उसे बेचैन बना दिया। एक सुनिश्चित पथ पर उसके नियंत्रित और सन्तुष्ट जीवन का शकट इतने दिनों तक जिस निर्बाध और नीरव रूप में चला जा रहा था आज पहली बार उसमें सदा के लिए रुकावट की स्थिति सामने आई। वह कितनी बार अपने साथ गुरु के आश्रम में रहने वाले श्रेष्ठ छात्रों को प्रसन्न तन मन से

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए देख भी चुका था पर आज उसका भी स्मरण उसे नहीं हुआ। ममता की मूर्ति गुरुपत्नी के ममत्व और दयालु गुरु के स्नेह को प्राप्त करने का सुयोग उसे गृहस्थाश्रम में कहीं नहीं दिखाई पड़ा। माता के अभाव और पिता के सहज विराग के कारण उसके स्नेह शून्य हृदय में गुरु और गुरुपत्नी के प्रति जो भाव भरा था उसकी पूर्ति गृहस्थाश्रम में कैसे हो सकती थी? वह सचमुच प्रसन्नता भूल गया। मन में सन्ध्या के बादलों की भाँति शीघ्र फैलने वाली विषाद की धूमिल छाया ने उसके तेजस्वी मुखमण्डल को क्षणभर में ही आभाहीन कर दिया। आँखों में प्रयत्न करने पर भी आँसू छलक पड़े। कण्ठ रुद्ध हो गया और विचार-शक्ति मन्थर बन गई। वह आज से बहुत दिनों पूर्व पलाश दण्डधारी जिस वटु वेश में गुरु के आश्रम में आया था, उससे भी गया बीता बन गया।

शास्त्रों के महान् पण्डित तथा लोक-व्यवहार में दक्ष उपमन्यु को अपने प्रिय छात्र की इस मनोव्यथा का पता चल गया। उस समय दीक्षा मण्डल में सैकड़ों अन्तेवासी अपने प्रिय सखा के इस महाभाग्य सूचक महोत्सव में सम्मिलित होकर प्रसन्नमुख खड़े थे। यज्ञाग्नि की सुगंधित श्यामल धूमराशि आश्रम के शान्त वातावरण को पवित्र कर रही थी। महर्षि वरुण सहज प्रसन्न मन से खड़े हो सब कुछ देख रहे थे, उन्हे भृगु के मानसिक उद्वेग का कुछ पता नहीं था। अतः उपमन्यु ने भृगु को आश्वस्त करने का यह अवसर ठीक नहीं समझा। महोत्सव की समाप्ति की घोषणा करते हुए उन्होंने अपने गम्भीर स्वर में अपने छात्रो का ध्यान एकाएक आकृष्ट किया। बोले—'वत्सो! चलो, जिस प्रकार भृगु ने अपनी सेवा-भावना, आत्म-निष्ठा और तत्परता से इस महोत्सव को सम्पन्न करने का शुभ संयोग प्राप्त किया, उसी प्रकार तुम लोग भी प्रयत्न करते जाओ। अब यहाँ का सब कार्य सम्पन्न हो चुका है, यहाँ तुम्हें खड़े रहने की आवश्यकता नहीं है।'

छात्रवृन्द धीरे-धीरे चला गया। दीक्षा-मण्डप में दो-चार वयोवृद्ध

विद्वान, उपमन्यु, वरुण तथा भृगु को छोड़कर कोई छात्र नहीं रह गया। इस बीच भृगु का मानसिक सन्ताप धीरे-धीरे घुल रहा था, पर अब तक प्रयत्न करने पर भी उसकी चंचल अश्रुधारा उसके नव श्मश्रु विमण्डित मुखमण्डल पर से अपना पथ नीचे बना रही थी। उसका क्रम जारी था, मन की कृत्रिम चेष्टा हृदय के सहज उद्गार में बाधा कहां तक पहुँचा सकती थी? उचित अवसर देख उपमन्यु ने मुस्कराते हुये, भृगु के कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखते हुए कहा—'आयुष्मन् भृगु! आज तेरी आकुलता मेरे मन में भी जगह कर रही है। मैं नहीं सोच पा रहा हूँ कि तुम्हें असमय में यह कुविचार कैसे बांध सके। बेटा! शास्त्र का इतने दिनों का अभ्यास क्या केवल सभाओं और समितियों के लिये ही है? तुम्हें इस तरह अशान्त होने में तो मैं कोई भी औचित्य नहीं पा रहा हूँ। वत्स! धीरज धरो और मुझे अपनी व्यथा का कारण बताओ।'

भृगु का रहा सहा विवेक गुरु के इन आत्मीय-व्यंजक सम्बोधनों से और भी झंकृत हो उठा। हृदय में एकाएक तीव्र स्पन्दन हुआ, वाणी और अधिक जड़ बन गई, आयत नेत्रों ने वेग से हृदय की आकुलता का परिचय दिया और श्वास की गति कुछ शब्दायमान हो गई। वह गुरु की बातों का उत्तर देना तो दूर, सामने ताकने की क्षमता भी खो बैठा। वरुण को भी अपने पुत्र की विकलता का बोध हो गया, पर वह भी चुप बने रहे।

थोड़ी देर बाद उपमन्यु ने धीर-गम्भीर स्वर में पुनः पूछा—'बेटा! अबोध बच्चों की तरह तुम्हारी यह विकलता मुझे कलंकित करने वाली होगी। मैं सचमुच यह जानना चाहता हूँ कि तुम इतने अधीर क्यों बन गए हो।'

भृगु को गुरु की गम्भीरता ने कुछ सोचने पर विवश किया। वह आकाश की ओर ताकने लगा। वरुण की उपस्थिति तथा महोत्सव के स्मरण ने उसे स्वस्थ बनाया। अवचेतन से अकस्मात् फूटने वाली

ममता या मोह की धारा गुरु के इस गम्भीर उद्‌बोधन में विलीन होने लगी। शास्त्रों ने भी उसे इस असमय में संभाला। फिर तो वह चुप नहीं रह सका। विनीत स्वर में हाथ जोड़ कर बोला —'पूज्य गुरुदेव! अपनी इस आकुलता के बारे में मैं स्वयं लज्जित हूँ। सचमुच मैं नहीं जानता कि मेरे इस आकस्मिक अज्ञानावरण का कारण क्या है? गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त होने के लिए आपका दिया हुआ आशीर्वाद ही मेरे इस अज्ञान का हेतु दिखाई पड़ता है। मैं इस निरवलंब जीवन से आपके चरणों की सेवा को ही निरापद, सुख-शान्तिमय और श्रेष्ठ मानता हूँ। मेरी इस आकुलता के मूल में दिन-भर में अनेक बार प्राप्त होने वाले ममतामयी माँ के स्नेहसिक्त सम्बोधन और आपके पवित्र चरणों की एकान्त सेवा के शुभ क्षण भी स्मृति रूप में जुड़ गए थे। इनसे आजीवन वंचित होने की कामना मुझमें नहीं थी और सचमुच अब भी नहीं है। पर गुरुदेव! मेरा अपराध क्षमा हो। पूज्य पितृचरण की सेवा का स्मरण मुझे उस क्षण नहीं आया। मैं स्वस्थ हूँ और अपने किए पर पछता रहा हूँ!'

उपमन्यु की कृत्रिम गम्भीर मुखमुद्रा भृगु की इस निश्चल वाणी से सहज-प्रसन्न हो उठी। वरुण के विरक्त नेत्रों मे भी नवीन भावनाओं की चमक दिखाई पड़ने लगी। दीक्षा मण्डप में समुपस्थित अन्य विद्वान चकित विस्मित नेत्रों से भृगु को निरखने लगे। मानों उसमें नवीन परिवर्तन हो गया हो।

उपमन्यु ने फिर कहा—'वत्स। गृहस्थाश्रम में सेवा का मार्ग सब ओर से खुला रहता है। यहाँ मेरे आश्रम में तो तुम्हें केवल मेरी अथवा आचार्यानी की सेवा का सुयोग मिलता था, पर गृहस्थी में तो तुम्हें अनेक दीन, दुःखी, दरिद्र, पुरजन, परिजन, आत्मीय जन तथा अतिथि मिलेंगे। उनकी मेरी ही तरह सेवा करने में तुझे इसी भाँति सुख, सन्तोष और शान्ति मिलेगी। अपनी विद्या और प्रतिभा का सदुपयोग तुम अपने छात्रों में करना, मेरा उदाहरण तो तुम्हारे सामने है। तुम्हारे

आराध्य पितृचरण स्वयं सेवा, त्याग और तपस्या की मूर्ति हैं। लौकिक विषयों में अप्रवृत्त होकर भी वे सब कुछ जानते हैं। उनका शरीर अब शिथिल हो चला है, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर तुम उनकी सेवा करके उतना ही श्रेय प्राप्त कर सकोगे, जितना ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर यहाँ प्राप्त करते रहे। वत्स! हमारे पूर्वजों ने आश्रम की यह व्यवस्था बहुत कुछ सोच-समझ कर बनाई है, गृहस्थी में रहकर सभी आश्रमों के लिए मनुष्य सहायता कर सकता है। तुम्हें अब इससे पलायन करना उचित नहीं है।'

भृगु थोड़ी देर चुप रहकर अपने गुरु के मुख की ओर गम्भीरता से निरखता रहा। फिर विनीत स्वर में बोला—'भगवन्! मैं गृहस्थाश्रम से पलायन नहीं करूँगा, मेरा सन्देह दूर हो गया है और मेरा मोह छूट रहा है।'

भृगु की इन विकल्प भरी बातों से वरुण की विचार-शक्ति कुछ प्रबुद्ध हो उठी थी। अपने विद्या-वयःप्राप्त पुत्र के इस असामयिक मोह के प्रकरण ने उनमें भी कुछ असमंजस के बीज बो दिये थे। उनकी अनुभवी आँखों और शब्दों के तत्त्व को पहचानवाले कानों से यह छिपा नहीं रह सका कि भृगु की विद्या अभी कितनी अधकचरी और बुद्धि कितनी भ्रान्त और अस्थिर रहनेवाली है। वे थोडी देर बाद अन-मने-से बोल पड़े।

'वत्स! इतनी देर तक तुम्हारी बातें सुन लेने के बाद मेरे मन में यह सन्देह उठने लगा है कि इतने दिनों तक तुमने जिस विद्या का अर्जन किया वह केवल शास्त्रीय रही है। आत्म-निष्ठा का पूर्ण उदय वा निर्विकल्प ब्रह्मविद्या का शुभ्र प्रकाश अभी तुझे नहीं मिला है। अन्यथा तुम्हें इस असामयिक अज्ञान के बन्धन में बँधकर क्यों भटकना पड़ता? मैं मानता हूँ कि तुम्हारे दयालु गुरु ने तुम्हें परिश्रम से शास्त्रीय विषयों में पारंगत कर दिया है और तुम गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त होने की पूरी क्षमता प्राप्त कर चुके हो; पर वत्स! ब्रह्मज्ञान के

अभाव में तुम्हारी गृहस्थी पूर्ण सुख-शान्तिदायिनी न बनेगी, भटकाने वाली और सन्देह बढ़ानेवाली होगी, अस्तु यह अवसर अधिक बात करने का नहीं है, शेष क्रियाएँ सम्पन्न करो और चलो, किसी उचित अवसर पर पूरी बातें होंगी।'

महर्षि वरुण की गूढ़ बातों से उपमन्यु का चेहरा उतर-सा गया। ऐसे अवसर पर उपस्थित होनेवाली अपने प्रिय शिष्य की अप्रतिष्ठा उनकी अप्रतिष्ठा थी। पर अब आगे चुप रहना भी ठीक नहीं था। प्रसंग को कुछ बदलते हुए वह बोले—'सखे वरुण! इस गूढ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति गृहस्थी में रहकर भी की जा सकती है और यदि दैवयोग से पिता द्वारा किसी भाग्यवान् पुत्र को इस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो जाती है तो इससे बढ़कर दूसरी बात क्या होगी?'

दीक्षामण्डप में अब तक चुपचाप खड़े अन्य विद्वान् ऋषियों ने सुचतुर उपमन्यु के कथन का अभिनन्दन करते हुए कहा—'महाभाग उपमन्यु! आपका कथन सर्वथा सत्य है। आयुष्मन भृगु अपने पिता के पास रहकर गृहस्थाश्रम में भी आत्म विद्या की प्राप्ति कर सकता है। हमारे सामने ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जब कि गृहस्थी में प्रविष्ट होकर आत्मविद्या की प्राप्ति करने के लिए लोग तपस्या और साधना के पथ से फिर वापस लौटे हैं। गृहस्थी इस पुनीत पथ में कोई बाधा नहीं उपस्थित करती।'

थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद उपमन्यु ने भृगु की ओर देखकर फिर कहा—'वत्स! चलो अब कुटीर की ओर चलें। यह कितना अच्छा सुयोग मिला कि जिस आत्मविद्या की प्राप्ति लोग वृद्धावस्था तक करते रहते हैं, उसके प्रति तुम्हारे मन में अभी से आकर्षण हुआ। मैं तो अब समझता हूँ कि जो कुछ हुआ है, अच्छा ही हुआ है। तुम्हारे सन्देह और मोह की यह क्षणिक क्षीण रेखा तुम्हारे शान्त निरापद और निर्मल भविष्य का संकेत लेकर उदित हुई थी। अपने पूज्य पिता महाभाग वरुण की सेवा में निरत रह कर तुम थोड़े ही दिनों

में सब ओर से सुखी, सन्तुष्ट और शान्त बन जाओगे।'

उपमन्यु की संकेत भरी बातों से महात्मा वरुण की गम्भीर मुख-मुद्रा कुछ हल्की हो गई। विचारों में उदारता आ गई और क्षणिक संशय छिन्न-भिन्न हो गए। इस बीच दीक्षामण्डप से सब लोग अपने-अपने कुटीर की ओर गमनोद्यत हो रहे थे, वह भी अपना कमंडलु और मृग चर्म लेकर उपमन्यु के साथ-साथ दीक्षामण्डप से बाहर निकल पड़े। मृग का सन्देह अब अपनी पूर्णता पार कर चुका था, विकल्प ने संकल्प का रूप धारण कर लिया था, विषाद बीत चुका था। अतः उत्साह और उमंग की लहरों पर तैरता हुआ वह भी गुरुजनों के पीछे-पीछे अपने कक्ष की ओर चल पड़ा।

+ + +

गुरु के आश्रम से विदा लेकर अपने पिता वरुण के साथ भृगु ने अपने पूर्वजों के टूटे-फूटे निवास-स्थान को फिर आबाद किया। दिन रात वह पिता की सेवा में जुटा रहता और गृहस्थी के जंजाल को हँसी-हँसी में उड़ा देता। थोड़े ही दिनों के भीतर उसके सरल-निश्छल साधु स्वभाव, निरभिमान व्यक्तित्व, संशयोच्छेदिनी विद्या और प्रखर प्रतिभा की चर्चा चारों ओर चल पड़ी। उजड़ी गृहस्थी में समृद्धि का आगमन प्रारम्भ हो गया। शिष्यों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। ज्योतिष शास्त्र के समस्त शुभ लक्षणों से समर्थित वास्तविक सुख शान्ति और सन्तोष की मूर्ति-सी उसकी सहधर्मिणी ने सारे सुखद साधनों समेत प्रविष्ट होकर उसकी आदर्श गृहस्थी को स्पृहा की वस्तु बना दी। विरक्त वरुण को भी वृद्धावस्था में लौकिक ऐषणाओं की तृप्ति का सुयोग प्राप्त हुआ। प्रिय पुत्र के चारों ओर फैलने वाले यश के अनुरूप सद्गुण और भाग्य के अनुरूप प्राप्त होने वाली पुत्रवधू ने उन्हें और भी निश्चिन्त बना दिया। इस प्रकार थोड़े दिनों में भृगु की गृहस्थी पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति उदित होते ही सुख शांति की सुधा-सी बरसाने लगी। थोड़े दिनों के लिए उसके सारे सन्देह, सारे विकल्प दूर

हो गये। अभावों के नितान्त अभाव ने उसको निश्चिन्त बना दिया। पर इस सन्तोष की निद्रा में भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का सुख-स्वप्न वह छोड़ना नहीं चाहता था। उचित अवसर की प्रतीक्षा में वह आकुल रहा करता था।

आखिरकार वह मंगलवेला एक दिन सन्ध्या के समय बिना बुलाए ही आ गई। महर्षि वरुण उस समय किसी चिंतन में निरत थे, उनकी अखंड समाधि यद्यपि टूट चुकी थी पर बाहरी आँखें किसी भीतरी तत्व को सुलझाने में अपलक हो रही थीं। विनीत भाव से पिता के चरणों के समीप बैठकर भृगु ने उन्हें सावधान किया। वरुण अधिक देर तक चुप नहीं रह सके। बोले—'बेटा! कहो क्या बात है? क्या आज बहुत पहले ही अग्नियों की आराधना कर चुके।'

भृगु ने कुछ देर रुककर विनम्र स्वर में हाथ जोड़कर कहा—"पूज्य तात! बहुत दिनों पूर्व आपने दीक्षा-मण्डप में जिस आत्म-ज्ञान प्राप्ति की चर्चा की थी, उसके अभाव में इतने दिनों बाद भी कभी मुझे सच्चा सुख नहीं मिला। दूसरों की दृष्टि में मेरी गृहस्थी और मेरी विद्या भले ही सन्तोष और शान्ति देनेवाली हो पर मैं तो उस आत्म-ज्ञान के अभाव में रीता हो रोता हूँ। अतः हे तात! जिस प्रकार मेरी यह बाधा दूर हो वह उपाय करें। मैं उसके लिए तैयार होकर आपके समीप आया हूँ।'

वरुण बड़ी देर तक चुप रहे। पुत्र की इस उत्कट कामना को सामने देखकर उन्हें सहसा कोई उत्तर नहीं मिला। उनकी अनुभवी आँखें ऊपर फैले हुए नीलाकाश में उलझ गईं जो सन्ध्या की लालिमा से रंजित हो रहा था। भृगु में अधिक देर तक पिता के इस मौन को सहन करने की क्षमता नहीं आई। विनत स्वर से हाथ जोड़कर वह फिर बोला—

'पूज्य तात! अब मुझे उस ब्रह्मविद्या की शिक्षा दीजिए, जिससे मुझे ब्रह्मतत्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो और सच्चे सुख, शान्ति और सन्तोष

का पात्र बन सकूँ। मैं यह जान चुका कि संसार में बिना उसको समझे या जाने सारा जीवन निरर्थक है, सारे शास्त्र विफल हैं, और सारी विद्या-बुद्धि व्यर्थ हैं।

वरुण को पुत्र की इन सूधी बातों में सन्देह का लेश नहीं रहा। वे सुप्रसन्न मन बोले—

'वत्स ! तुम्हारी सच्ची ज्ञान-पिपासा को जानकर आज मुझे प्रसन्नता हुई। सचमुच इस संसार में ब्रह्मतत्व की प्राप्ति के बिना सब कुछ व्यर्थ है। पर उस ब्रह्मतत्व की प्राप्ति बहुत सरल नहीं है। उसके लिए तुम्हें सच्चे तन मन से तैयार होने की जरूरत है। क्या मैं यह मान लूँ कि तुम इस संसार की असारता को परख चुके हो और अपने योग्य गुरु द्वारा प्राप्त सभी शास्त्रीय विद्याओं में उस ब्रह्मतत्व का प्रतिबिम्ब देख चुके हो।'

भृगु ने थोड़ी देर तक चुप रह कर पिता की बातों पर ध्यान दिया और फिर विनत स्वर में उत्तर दिया—'तात ! मैं यह तो जानता हूँ कि उस ब्रह्मतत्व की प्राप्ति बहुत सरल नहीं है, क्योंकि जिसके लिए आपने अपने सारे जीवन को ही खपा दिया उसे मैं इतनी आसानी से कैसे प्राप्त कर लूँगा; पर यह तो मैं नहीं जानता कि गुरु की दी हुई सभी शास्त्रीय विद्याओं में उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और सारा संसार उसके जाने बिना असार है। अपने तन-मन की सच्चाई पर भी मुझे अडिग विश्वास है। इसके अतिरिक्त मुझे आपकी कृपा का ही भरोसा है। मेरे तात ! मेरी सारी शास्त्रीय विद्या, बुद्धि और प्रतिभा उस परम-तत्व की ज्योति के बिना निष्प्रभ और मलिन है, मुझे उनका पूरा भरोसा नहीं है।'

वरुण ने पुत्र की विनयभरी बातें ध्यान से सुनकर कुछ देर चुप रह कर फिर कहा—'वत्स ! यह शरीर जिसे तुम देख रहे हो वह अन्नमय है। अन्न के बिना इसका टिकना कठिन है। इस अन्नमय शरीर के भीतर प्राण हैं, आँखें हैं, कान है, वाणी है, मन है। इन सब

को तुम ब्रह्मज्ञान का द्वार समझो। इन्हीं सब के द्वारा उसका तत्व-चिन्तन हो सकता है। इस संसार में जितनी वस्तुएँ तुम देख सुन या समझ सकते हो उन सब का रचयिता वही ब्रह्म है। एक तुच्छ तृण से लेकर महानमहिमामय तक सब पदार्थ जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसकी सत्ता से जीवित रहते हैं और अन्त समय में जिसके भीतर प्रवेश करते हैं और तद्गत होकर लीन हो जाते हैं, उसी ब्रह्म को विशेष रूप मे जानने को इच्छा करनी चाहिए। पर वत्स! उसे प्राप्त करने के लिए या जानने के लिए तुम्हें साधना और तप की शरण पुनः लेनी पड़ेगी।'

भृगु ने पिता की सारी बातें ध्यानपूर्वक सुनकर यह समझ लिया कि उसे अब तप करने की आवश्यकता है। अभी तक साधना और तपस्या का उसकी आँखों में वह मूल्य नहीं था, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ जोवन के वर्षों में उसने शास्त्रों के नियम पूर्वक अध्ययन-अध्यापन, तन मन से गुरु सेवा, अग्न्याधान, सदाचरण और सुचरित्रता को ही साधना माना था और तपस्या के नाम पर कतिपय व्रतों एवं उपवासों का ही महत्व उसे विदित था। पर पिता को गम्भीर वाणी में तपस्या और साधना की नई आभा से वह चकाचौंध में पड़ गया। थोड़ी देर तक चुप रह कर विनम्र स्वर में बोला—'तात! क्या तपस्या और साधना के अतिरिक्त ब्रह्मतत्व की प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है?'

वरुण बोले—'वत्स! किसी अन्य प्रकार पर मेरा अडिग विश्वास नहीं है। यों संसार में ब्रह्मज्ञानियों की कमी नहीं है और सब अपने-अपने अनुभव को कुछ अलग-अलग बातें भी बताते हैं, पर मेरा अपना अनुभव यही है कि बिना तन, मन और प्राणों को वश में किए हम परम तत्व के समीप भी नहीं पहुँच सकते, प्राप्ति तो असम्भव ही है।'

भृगु ने विनीत स्वर में कहा—'तात! कल प्रातःकाल मुझे उस साधना में निरत होने की आज्ञा प्रदान कीजिए, जिससे ब्रह्मप्राप्ति

सुलभ होती है।'

\+ + +

पिता की आज्ञा-प्राप्त कर भृगु सहर्ष ब्रह्म का ध्यान करने के उद्देश्य से तपस्या में निरत हो गया। कई दिनों तक वह केवल जल पीकर साधना में लगा रहा। अन्न का स्पर्श भी नहीं किया, जिससे शरीर बहुत शिथिल हो चला। शक्ति की कमी मालूम पड़ने लगी। आंखों में अँधेरा छाने लगा। अब उसे अपने पिता के प्रथम बचन का ध्यान आया कि शरीर सचमुच अन्नमय है, और यह अन्न ही ब्रह्म है क्योंकि इसी के भरोसे संसार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। यदि अन्न अर्थात् आहार न हो तो सब का जीवन समाप्त हो जाय। सचमुच जैसा कि पिताजी ने बताया है, सभी जीव इसी अन्न से जीवन धारण करते हैं और फिर अन्न में ही जाकर प्रवेश करते हैं। इस संसार में यह अन्न ही सर्वशक्तिमान् है, उसके अभाव मे किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता।

थोड़े दिनों की इस उग्र तपस्या से ऐसी ज्ञान-राशि अर्जित कर म्लान मुख भृगु का ब्रह्मवर्चस प्रतीप्त हो उठा, वह एक दिन पिता के समीप आकर सादर बोला—'पूज्य तात! मैंने यह जान लिया कि अन्न ही ब्रह्म है, पर इतना जान लेने पर भी पता नहीं क्यों मुझे सच्चे सुख और सन्तोष की सुखद छाया अभी नहीं मिल रही है, अब भी मैं पहले ही की तरह असंतुष्ट, सन्तप्त और दुःखी हूँ। अतः आपसे प्रार्थना है कि मुझे ब्रह्मतत्व की पूरी शिक्षा कृपाकर फिर से दीजिए।'

वरुण को पुत्र की मनोवृत्ति का पता लगा गया। वह बोले—'वत्स जैसा कि मैं पहले भी बता चुका हूँ कि बिना तन मन और प्राणों को वश में किये तुम्हें सच्ची शान्ति नहीं मिलेगी। इसके लिए मैं तुम्हे साधना का सरल पथ बतला रहा हूँ, ध्यान-पूर्वक सुनो। मन समेत ये इन्द्रियाँ बढ़ी चपल है, इन पर नियंत्रण रखना बहुत कठिन है। अतः तुम्हे चाहिए कि इस सभी इन्द्रियों की बाहरी वृत्तियों को भीतर की ओर करके तपस्या

द्वारा तत्त्व-चिन्तन करो। बेटा! तप से ही उस ब्रह्मतत्व की प्राप्ति सम्भव है अन्यथा नहीं।'

भृगु को अपनी भूल मालूम हुई। अभी तक वह केवल अन्न छोड़ने और ध्यान में आँखें मूँद कर बैठने को ही तपस्या और साधना माने बैठा था; और इन्द्रियों को दुर्दमनीयता पर ध्यान नहीं देता था। नये निश्चय और नये उत्साह की तरंगों पर तैरता हुआ वह पुनः तपः साधना में लीन हो गया। इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने के लिए उसे पहले ही से प्राणायाम की विधि ज्ञात थी। उसने नये सिरे से इस दिशा में प्रवेश किया। थोड़े दिनों बाद वह इस निश्चय पर पहुँचा कि वास्तव में 'शरीर में विराजमान प्राण ही ब्रह्म है। अन्न के अभाव में भी शरीर कुछ समय तक टिका रह सकता है पर प्राणों के अभाव में तो उसकी सत्ता एक क्षण के लिए भी नहीं होती। इस प्राण से ही संसार के समस्त प्राणी जन्म लेते हैं प्राण ही के द्वारा जीवन धारण करते हैं और अन्त में फिर इसी प्राण में ही जाकर लीन हो जाते हैं। पिताजी में ब्रह्म की जो पहचान बतलाई है, वह सब प्राणों पर ही पूर्णतया घटित हो रही है।'

इस धारणा को दृढ़ बनाकर भृगु फिर अपने पिता के समीप वापस आया और बोला--'तात! मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ। ब्रह्म प्राप्ति के लिए जो-जो विचार उठते है उन्हें ही बाद में छोड़ना पड़ता है। कृपाकर मुझे ब्रह्मप्राप्ति का कोई दूसरा सीधा उपाय बताइये।'

वरुण ने कहा—'वत्स! मन की अस्थिरता स्वाभाविक है, उसे स्थिर करने का उपाय तपस्या के सिवा कोई दूसरा नही है। तुम अभी तपस्या और साधना में ही लीन रहो। धीरे-धीरे अस्थिरता दूर हो जायगी और उस स्थिति में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति आसानी से हो जायगी।'

भृगु पिता की बातों में चित्त लगाकर फिर तपस्या और साधना में रत हो गया। धीरे-धीरे विचारों की बाढ़ रुकने लगी और मन की चंचलता दूर होने लगी। मानसिक आंधियों की उष्णता के कम हो

जाने से उसे सच्चे सुख, शान्ति एवं संतोष की सुखद छाया मिलने लगी। अन्तराकाश में प्रकाश की किरणें उदित होने लगीं और उसे विश्वास होने लगा कि वास्तव में तपस्या द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। पर वह ब्रह्म क्या है, जिसे प्राप्त करने के लिए इतनी दृढ साधना की आवश्यकता पड़ती है। कई बार उसने इस विषय पर एकात में विचार किया पर मन की शक्ति के अलावा उसकी पहुँच किसी दूसरी वस्तु तक नहीं हो सकी! निदान उसने निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है, और मन से ही यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, मन ही के द्वारा वे जीवित रहते हैं और मन ही में जाकर विलीन हो जाते हैं। यह मन ही जगत् में सर्वत्र व्यापमान है, उसकी सत्ता के बिना किसी वस्तु का ठिकाना नहीं हो सकता।'

मन के बारे में अपनी उक्त धारणा पर उसने जितना ही अधिक विचार किया उतना ही मन की अपार शक्ति से वह अभिभूत होता गया। अन्ततः आगे की ओर विचार-शक्ति को बढ़ते न देख वह फिर अपने दयालु पिता के चरणों में वापस आया और बोला—'तात! मुझे सच्ची ब्रह्मविद्या की शिक्षा दीजिए। तपस्या द्वारा मैं जिन धारणाओं को अपनाता हूँ वे आपके समीप आने पर भ्रांत सिद्ध हो जाती हैं। भगवन्! यह क्रम कब तक चलेगा। मेरी प्रार्थना है कि अब आप मुझे उस निर्विकल्प ब्रह्मज्ञान का उपदेश कीजिये, जिससे मेरी विकलता दूर हो।'

वरुण ने मुसकराते हुये कहा—'सौम्य! तपस्या द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। आत्म-साधना के सिवा असन्तोष और विचारों की बाढ़ के शमन का कोई अन्य उपाय नहीं है। अतः इसके लिए तुम्हे उकताने की जरूरत नहीं है। वत्स! तुम निरन्तर तपस्या करते चलो, घबराओ नहीं।'

पिता की बातें सुन भृगु फिर तपस्या करने लगा। अब उसे चित्त में कुछ सन्तोष और शान्ति का अधिक अनुभव होने लगा। अन्तराकाश विज्ञान के प्रकाश की शुभ किरणों से आलोकित होने लगा और

समस्त इन्द्रियों में स्थिरता, सन्तोष, आत्मविश्वास एवं उत्साह की लहरें दौड़ने लगीं। उसने अनुभव किया कि विज्ञान ही ब्रह्म है। विज्ञान से ही समस्त स्थावर-जंगम जीव समूह उत्पन्न हुए है, विज्ञान से ही ये सब जीवन धारण किए हुए है और अन्त में विज्ञान में ही प्रवेश करके उसमें विलीन हो जाते हैं। विज्ञान के ऊपर ही यह समस्त जगत टिका हुआ है, उसके बिना संसार का व्यापार चक्र एक क्षण भी नहीं चल सकता।'

आत्म-साधना में इन विचार-रत्नों को इकट्ठा कर भृगु अपने पिता के समीप फिर वापस आया और विनीत स्वर में हाथ जोड़कर वोला—'भगवन्! ब्रह्म की साधना में मैं जहाँ तक पहुँच सका हूँ, अब कृपया उसके आगे की विद्या मुझे बताइये। मेरे मन में तो विज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि उसके बिना जगत् की सत्ता क्षण भर भी नहीं टिक सकती।'

वरुण बोले—'वत्स! इस विज्ञान से भी आगे उस ब्रह्म की सत्ता है, उसे प्राप्त करने में अब तुम्हे विशेष कठिनाई नहीं होगी! पर अभी तपस्या और साधना की शरण तुम्हे छोड़नी नहीं पड़ेगी। तपस्या द्वारा ही तुम उस ब्रह्म का रहस्य जान सकते हो। सौम्य! अधीर मत बनो और शान्ति से थोड़े समय के लिए साधना में लगे रहो।'

भृगु ने पिता की बात मान ली। वह सच्चे तन-मन से तपस्या में फिर रत हो गया। इस बार तपस्या और साधना में उसे अपूर्व आनन्द मिलने लगा। विज्ञान के शुभ्र प्रकाश में जहाँ अन्तराकाश का अन्धकार विलीन हो चुका था वहाँ अब आनन्द की लहरें दौड़ने लगीं। चारों ओर तन मन में उमंग, उत्साह, प्रकाश और आनन्द की चन्द्रिका फूट पड़ी। विचारों की बाढ़ रुक जाने से अन्तर्जगत में निर्मल निश्छल शान्ति की धारा प्रवाहित हो गई। उसे यह बताने की जरूरत नहीं पड़ी कि इस आनन्द के सिवा ब्रह्म कोई दूसरी वस्तु है। उसने भीतर और बाहर देखा कि सर्वत्र एक आनन्द का स्रोत उमड़ रहा है उसी

से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उसी के द्वारा सब जीवन धारण करते हैं और अन्त में उसी में जाकर विलीन हो जाते हैं। वास्तव में यह आनन्द ही ब्रह्म है। इस आनन्द की कोई इति नहीं है, कोई आदि नहीं है। यह सर्वत्र और सर्वदा एक रूप है, इस चराचर जगत् की अवस्थिति आनन्द के सिवा किसी दूसरी वस्तु में क्षण भर के लिए भी नहीं हो सकती है।

इस प्रकार अविचल आनन्द ब्रह्म के निश्चित तत्त्व को प्राप्तकर भृगु अपने पिता के समीप आया। उस समय उसका प्रदीप्त मुखमण्डल ब्रह्म-तेज के आधिक्य से विभासित हो रहा था, आँखों में अपूर्व ज्योति आ गई थी। पिता के चरणों के समीप पहुँच कर उसने झुककर प्रणाम किया और विनीत स्वर में कहा—'तात! अब मेरी दृष्टि मे आनन्द के सिवा ब्रह्म किसी दूसरी वस्तु का नाम नहीं है। आपकी कृपा से ही उसे प्राप्त करने में भी सफल हुआ हूँ। भगवन्! आज मेरी विद्या-बुद्धि सुफल हो गई है। सच्चे सुख और सन्तोष की अनुभूति भी मुझे आज ही हो रही है!'

वरुण ने देखा भृगु का प्रसन्न मुखमण्डल आनन्द ब्रह्म की सुख-दायिनो छाया में प्रफुल्ल हो रहा था। आँखों में शान्ति का अगाध समुद्र लहरा रहा था और इन्द्रिय समूहों में ब्रह्मवर्चस् की आभा निस्सीम उमंग और उत्साह से छलक रही थी। उन्होने मुसकराते हुए कहा—'सौम्य! तुम्हारी साधना और तपस्या आज सुफल हुई। सचमुच आनन्द ही ब्रह्म है। वह आनन्द रूपी ब्रह्म परम अन्तर आकाश में स्थित है। हे तात! तुम्हारी तरह जो भाग्यशाली उसे जान लेता है वह साक्षात् परम ब्रह्म में स्थित हो जाता है। वह इस संसार में अन्नादि से युक्त होता है, विविध सुख-साधनों से समृद्ध होता है, सन्तान आदि सभी सुखों को प्राप्त करता है, पशुओं से सुख प्राप्त करता है और ब्रह्मतेज द्वारा महान् महिमामय होकर अमिट कीर्ति प्राप्त करता है।'

इस प्रकार पिता के कल्याणकारी आशीर्वचनों को प्राप्तकर

भृगु के इस ब्रह्मयज्ञ की पूर्णाहुति हो गई। उसकी गृहस्थी सुख शान्ति एवं सन्तोष से समन्वित होकर स्वर्ग बन गई और ब्रह्म-विद्या के तत्त्वों को प्राप्त कर वह उस स्वर्ग का एकमात्र अधिकारी बन गया। न उसके बाह्य जगत् में विघ्न-बाधाओं की कोई छाया थी और न अन्तर्जगत् में मानसिक आधि-व्याधियों की कोई क्षीण रेखा।

———

प्रजापति की शिक्षा

एक बार कुछ दिनों तक पृथ्वी तल पर सुर, असुर और मनुष्यों में आपस में बहुत पटने लगी थी। एक दिन सबके चतुर पितामह-वृद्धों ने सलाह कर आपस की इस सद्भावना को चिरस्थायी रखने के लिए यह निश्चय किया कि—'हम सब को प्रजापति ब्रह्मा के पास चल कर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि वही इस चराचर जगत् के स्वामी हैं, उनकी दृष्टि में हम सब एक समान हैं, हम सबका जिस तरह से भी कल्याण होगा, इसका उपाय वही बतला सकते हैं। इस आपस के लड़ाई-झगड़े से सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा।'

इस प्रकार का निश्चय कर कुछ सुचतुर वृद्ध पितामह लोग शिष्य भाव से प्रजापति ब्रह्मा के समीप पहुँचे। यद्यपि वे सब के सब बहुत वृद्ध हो चले थे। पर शिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्होंने विद्यार्थी की वेश-भूषा अपनाई। हाथों में पलाश दण्ड और कुश, कन्धे पर मृग चर्म और कटि में मुंज की मेखला पहन कर विनीत मुद्रा में आये हुए सुर, नर और असुरों के पितामहों को देखकर प्रजापति ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। अपनी सन्तानों की इस सन्मति पर उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। क्योंकि हजारों वर्षों से जिनके बीच रक्त की नदी बहा करती थी, जो एक दूसरे की जान के ग्राहक बने रहते थे, कभी किसी पर भूल कर भी विश्वास नहीं करते थे, एक साथ इस वेश-भूषा और इस विनीत मुद्रा में देखकर विस्मित होना स्वाभाविक था। अपनी सहज मुसकान से दिशाओं को उद्भासित करते हुए प्रजापति ने कहा—'भद्र! आप लोगों को आज एक साथ इस सुप्रवृत्ति के पथ पर देखकर मुझे सचमुच बड़ी प्रसन्नता हो रही है। मैं जानना चाहता हूँ कि आप लोगों में इस सन्मति का उदय कैसे हुआ और मेरे यहाँ आने की जरूरत क्यों पड़ी?'

सुर, नर और असुरों के पितामहों ने हाथ जोड़कर अपने अभिप्राय

प्रकट किये। लोक पितामह ब्रह्मा को यद्यपि उनकी बातों पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, पर अतिथि समादर के नाते उन्होंने सदाचार प्रकट करते हुए कहा—'भद्र ! तुम लोग इस वृद्धावस्था में शिथिल शरीर लेकर इतनी दूर शिक्षा ग्रहण करने के लिये आये हो, इसे देखकर मैं इनकार नहीं कर सकता। पर इसके लिये तुम्हें आवश्यक है कि कुछ काल तक मेरे आश्रम में रहकर अपने आचरण और निष्ठा की परीक्षा दो। ब्रह्मचर्य और संयम से इन्द्रियों को यथासम्भव वश में करो। उसके बाद मैं उचित अवसर देख एक-एक को शिक्षा दूँगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सब की मनःस्थिति समान नहीं है और समान मनःस्थिति जिनकी नहीं रहती, उन्हें बुद्धिमान गुरु को कभी एक साथ शिक्षा नहीं देनी चाहिये।'

लोक पितामह भगवान ब्रह्मा की बातों पर सुर, नर और असुरों के पितामहों ने अपनी आस्था प्रकट करते हुए विनीत स्वर में कहा—'भगवन् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, हम संयम और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन कर इन्द्रियों को वश में रखेंगे और अपने आचरण तथा निष्ठा की परीक्षा देंगे। आपकी कृपा से ही हमें सच्चे सुख और सन्तोष की प्राप्ति हो सकती है। हम इतने मूढ़ बन गए हैं कि आपस के कलह से हमने समस्त जगत् को नरक बना डाला है, सदा अविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मद और लोभ की अग्नि में जल रहे हैं। हम सबके लिए आपसे बढ़कर परम उपकारी कोई दूसरा नहीं है। हे भगवन्। जिस प्रकार हमारी अविद्या दूर हो और हम सब आपस में सुख सन्तोष एवं शान्ति का जीवन बिताने योग्य बन सकें, वह उपाय हमें बतायें। उसी अमृत शिक्षा को प्राप्त करने के पवित्र उद्देश्य से ही सब आपकी शरण में आये हैं।'

लोक पितामह ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा—'भद्र ! तुम्हारी कामनायें पूर्ण होंगी, सच्चे तन, मन से संयम और साधना में लगे रहो। समय आने पर मैं स्वयं तुम में से एक-एक को बुलाऊँगा।'

ब्रह्मा की बात मान सुर, नर और असुरों के पितामह साधना में लीन हो गये। संयम और ब्रह्मचर्य से अपने-अपने विकारी इन्द्रियों और मन को वश में रखने की वे कोशिश करने लगे। आपस के वैर-भाव को भूल-कर प्रेम और सौहार्द की भावना प्रकट करने लगे। ब्रह्मा के पुनीत आश्रम के निर्वैर वातावरण ने उन सबको पूर्ण अहिंसक, शान्त और निर्विकार बनाना शुरू किया। सुरों की विषयभोगेच्छा, नरों की सांसारिक आसक्ति और असुरों की हिंसा धीरे-धीरे बदलने लगी। वे रात-दिन ब्रह्मा की सेवा में रहने लगे और अपने शारीरिक सुख-साधनों के प्रति उदासीन से हो गये। जहाँ प्रतिक्षण अपने शरीर के बनाव-सिंगार और आराम की चेष्टा में वे लगे रहते थे वहाँ आत्मिक शुद्धि, समाधि और पितामह की सेवा में सच्चे मन से जुटे रहने लगे।

इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। लोकपितामह की सनातन अनुभवी आँखों में उनकी सेवा, साधना और सुचरित्रता का मूल्य चढ़ने लगा। उनके दयालु मन में उन पितामह वृद्धों के शिथिल शरीर पर एक दिन दया आ ही गई।

सन्ध्या का सुहावना समय था, पश्चिम आकाश की लालिमा नभ की नीलिमा को ग्रसकर चारों ओर निखर रही थी, वायु का वेग भी शिथिल हो रहा था, पक्षी गण अपने-अपने बच्चों की याद में नीड की ओर उन्मुख हो रहे थे, सृष्टि का सारा व्यापार समेटा जा रहा था, लोक पितामह ने देखा कि अब इन सुर वृद्धों पर दया करनी चाहिए, क्योंकि अब ये इसके पात्र हो गए हैं। ब्रह्मा के मन की इस स्नेह-भावना ने सुर पितामहों को अछूता नहीं छोड़ा। ठीक उसी समय उनके मन में भी यह खिचाव पैदा हुआ कि आज की इस मंगलमयी बेला में हमें लोक पितामह से शिक्षा देने की प्रार्थना करनी चाहिए, क्योंकि चारों ओर से सृष्टि के कण-कण में यही आकर्षण दिखाई पड़ रहा है। उन्होंने ऊपर देखा कि चन्द्रमण्डल के साथ विशाल गगन में

ताराओं की पंक्तियाँ उदित होकर उनकी सफलता का संकेत कर रही हैं। वे लोकपितामह ब्रह्मा के समीप पहुँच गए और विनीत स्वर में हाथ जोड़ कर बोले—'भगवन् ! अब हमें उपदेश कीजिए। हमारी सफलता की मंगलमयी वेला आ गई है, न जाने क्यों आज हमारे मानस में यह खिचाव पैदा हुआ है कि हम अनजाने ही आप के समीप पहुँच गए हैं।'

लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा थोड़ी देर धीर-गम्भीर मुखमुद्रा से सुर पितामहों की ओर ताकते रहे। फिर मृदंग की तरह सुमधुर स्वर में केवल एक अक्षर 'द' बोल कर वह चुप हो गए। नीरव आकाश मण्डल को प्रतिध्वनित कर उनका वह अक्षर भूमण्डल को उद्भासित करते हुए वातावरण में विलीन हो गया। सुर पितामहों के समुत्सुक कर्णरन्ध्रों में घण्टे की टंकार की तरह वह 'द' बड़ी देर तक अनुरणित होता रहा, आँखों के सामने नाचता रहा और मुखमण्डल के सामने अपने समुज्ज्वल स्वरूप में जगमगाता रहा।

इस प्रकार समस्त अग-जग में 'द' का व्यापक विराट् स्वरूप विलीन होकर सुर पितामहों को कृतार्थ कर गया। वे ब्रह्मा के चरणों में शीश झुकाकर फिर विनीत मुद्रा में बैठ गए। उन्होंने सोचा इतनी तपस्या और साधना के बाद जिस महान् शक्तिशाली अक्षर की उपलब्धि हमें हुई है, उसका तात्पर्य कितना गूढ़ और कितना अनन्त होगा। वे समाहित चित्त होकर 'द' का अर्थ लगाने लगे। उन्होंने सोचा—'हमारे आवास-स्थान स्वर्ग में भोगों की भरमार है। हम सुरों के लोक में भोग-विलास ही सुख शान्ति के कारण बन गए हैं। हम अमर-अजर बन कर सदा इन्द्रियों के दास बने हुए हैं, वृद्धता और मृत्यु के भय से मुक्त होकर शारीरिक सुख भोगों को ही सर्वस्व मान बैठे हैं। सम्भवतः इसीलिए प्रजापति ने हमें 'द' अर्थात् 'इन्द्रिय दमन' का उपदेश किया है। क्योंकि इसी 'दमन' के अभाव में ही हम छल-छिद्र, ईर्ष्या-द्वेष के शिकार बन बैठे हैं।

सचमुच इन्द्रियों समेत मन का दमन कर हम वैर, द्रोह आदि दुर्गुणों से सदा के लिए बच जायँगे।

सुरपितामह गण इस प्रकार की चिन्तना और उधेड़ बुन में लगे थे कि प्रजापति ने उन्हें निःसंशय करने के विचार से कहा—'सौम्य! आप लोगों ने इस 'द' का तात्पर्य तो समझ लिया न?'

सुरपितामहों ने विनम्र स्वर में कहा—'भगवन्! आपकी कृपा से हम इसका तात्पर्य समझ गये। आपने हमें विलासी समझ कर मन-समेत इन्द्रियों का दमन करने की शिक्षा दी है न?'

पितामह प्रजापति ने मुसकराते हुए कहा—'भद्र! सचमुच 'द' का तात्पर्य यही था, जिसे आप लोगों ने समझा है। जाइये, और तन-मन से इसी पर अवलम्बित रहिए। बिना इन्द्रिय-दमन के मन वश में नहीं होता और बिना मन को वश में किए सांसारिक दुःखों से निवृत्ति नहीं होती। आप सब भोग-विलास को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठे हैं। सोचें, इस के कारण आपकी शान्ति बीत गई है, सन्तोष नष्ट हो गया है और रात-दिन आपस में झगड़ा-फसाद मचा हुआ है। इस 'द' का अर्थ समझ कर यदि इसी के अनुसार आचरण करेंगे तो कभी दुःख और अशान्ति न होगी।'

सुर पितामह गण प्रजापति की शिक्षा को ग्रहण कर सुरलोक को प्रस्थित हो गया। उस समय उनकी आँखों में अपनी अजरता और अमरता का सच्चा मूल्य मालूम पड़ रहा था। चिरकाल से जमा हुआ उनका वैर-वृक्ष समूल उखड़ चुका था और सन्तोष तथा शान्ति की लहरों से द्वेष तथा ईर्ष्या की अग्नि बुझ चुकी थी।

सुरपितामहों के शिक्षा ग्रहण कर चले जाने के बाद नर-पितामह-गण प्रजापति के पास जाकर शिक्षा ग्रहण करने की मंगल बेला की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ दिन बीतने के बाद उनकी साधना भी निर्विघ्न सम्पन्न हुई और जिस तरह एक दिन सन्ध्या के समय प्रजापति और सुर-पितामहों के मन में आकर्षण उत्पन्न हुआ था ठीक उसी

तरह एक सन्ध्या के समय नर-पितामहों ने भी जाकर प्रजापति के चरणों में प्रणाम कर निवेदन करते हुए कहा—'भगवन् ! अब हमें भी उपदेश दान कर कृतार्थ कीजिए !'

प्रजापति को नर-पितामहों की साधना और तपस्या पर विकल्प नहीं रह गया था। थोड़ी देर तक चुप रहकर अपने गम्भीर घनगर्जन स्वर में उन्होंने अपने पूर्व उपदिष्ट 'द' का फिर वैसा ही उच्चारण किया। नर-पितामहों ने देखा, प्रजापति के मुख से एक प्रदीप्त ज्वाला चारों ओर से फैले हुए अज्ञान-तम का ध्वंस करती हुई आकाश-मण्डल में विलीन हो गई। वायु की लहरों पर उसके सुमधुर अनुरणन की झंकार बड़ी देर तक होती रही, वृक्षों के पत्तों और झुरमुटो में भी एक संगीत-लहरी फैल गई। ऊपर, नीचे, दायें, बाएँ सब ओर उस महामहिमामय 'द' की गूँज व्याप्त हो गई। पशु-पक्षी भी मानों उसके अलौकिक तेज से अभिभूत होकर चुप हो गए, सूर्य ने मुँह छिपा लिया और सारी प्रकृति सन्न हो गई।

नर-पितामहों ने विचार किया कि निश्चय ही इस 'द'कार के सिवा हमारे अज्ञान-अंधकार को दूर करनेवाली कोई दूसरी शिक्षा नहीं हो सकती। हम लोग कर्मयोनि होने के कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थ संग्रह करने में ही तत्पर रहते हैं और यही हमारे परस्पर के कलह, वैर, द्वेष आदि का मूल कारण है जिससे हम अशान्त और दुःखी हैं। इसीलिए प्रजापति हम लोभियों को 'द' अर्थात् 'दान" करने की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। निश्चय ही हमें कभी अर्थ-संग्रह करने से फुरसत नहीं मिली। वृद्ध हो गये, सारा शरीर शिथिल हो गया है, हाथ, पैर, दाँत, आँख, कान, नाक सब अपनी शक्तियाँ गँवा चुके हैं पर तृष्णा संग नहीं छोड़ रही है। यह तो धीरे-धीरे बुढापे के साथ और भी जवान होती जाती है। हमें धिक्कार है जो इस पापिनी लालच के कारण सारे जीवन को नरक बना देते हैं। 'दान'! अहा ! इस अमृत तुल्य सुख शान्ति और सन्तोषदायी शब्द के समान सुमधुर

कौन दूसरा शब्द हैं जो कानों में अमृत घोलकर हृदय में उल्लास तथा शान्ति का समुद्र लहरा देता है।'

नर-पितामहगण इस तरह की कल्पना में आनन्द विभोर हो रहे थे कि परीक्षा लेने के विचार से लोक पितामह प्रजापति ने पूछा—'सौम्य! मेरी इस शिक्षा का अपने क्या तात्पर्य समझा?'

नर-पितामहों ने विनीत स्वर में हाथ जोड़कर कहा—'देव! हमारे अज्ञान का आवरण हट गया। आपकी अमोघ कृपा ने हमारे जीवन को सुफल बना दिया है। आपने 'द' के बहाने हम लोभियों को 'दान' करने की शिक्षा प्रदान की है न?'

भावुक वृद्ध नर-पितामहों की निष्कपट वाणी ने प्रजापति के कमल-मुख की शोभा को बढ़ा दिया। वे अपनी सहज मुसकान से दिशाओं को उद्भासित करते हुए बोले—'सौम्य! मेरे कथन का आप सबने ठीक-ठीक तात्पर्य समझा है। सचमुच आप सबकी लोभ-वृत्ति से समूचा जगत् नरक बन गया है। 'दान' के समान संसार में कोई दूसरी महौषधि नहीं है जो मृतक को नवजीवन और अचेतन को चेतना प्रदान कर सके। यह अमृत का चिरसखा और स्वर्ग का सहोदर है। मनु के वृद्ध-पुत्रो! जाइए और दान कीजिए। अपने दान की महिमा से जग को जीत लीजिए और मरुस्थल में मन्दाकिनी की धारा बहा दीजिए। आपके यशःसौरभ से दिगन्त आपूरित होगा और चन्द्रमा को भी ज्योति मिलेगी।'

लोकपितामह प्रजापति के आशीर्वचनों को सुनकर नर-पितामहों के वृद्ध शिथिल शरीर में नवयौवन का संचार हो गया, आँखों में शान्ति और सन्तोष की निर्मल आभा प्रतिभासित हो गई और विदग्ध हृदय में उल्लास का पारावार उमड़ पड़ा। वे पुलकित शरीर होकर पितामह के चरणों पर फिर शीश रखकर अपने लोकों को वापस लौट आये और सचमुच अपने 'दान' की महिमा से भूमण्डल को स्वर्ग बनाने लगे।

इसी तरह कुछ दिन बीत जाने के बाद असुरों की साधना भी समाप्ति के समीप आई। वे अब क्रूर हिंसक असुर नहीं थे, आत्म-साधना के यज्ञ में कुप्रवृत्तियों तथा कुविचारों की बलि देकर वे अब पूरे 'याज्ञिक' बन चुके थे। उनमें हिंसा की जगह अहिंसा, क्रूरता की जगह क्षमा और प्रवंचना की जगह लोक-हितैषिता की भावना पैदा हो चुकी थी। तपस्या ने उनके पाप-पंकिल शरीर को तपाकर निर्विकार और निर्लेप बना दिया था। सुर, नर पितामहों के सिद्धि प्राप्ति कर चले जाने के बाद उन्हे अपनी साधना में और भी प्रेरणा मिली। उन्हें यह बोध हो गया कि कुविचारों और कुप्रवृत्तियों के कारण ही हमें सिद्धि प्राप्त करने में इतना विलम्ब हो रहा है।

आत्म-ग्लानि अभ्युदय के पथ पर दीपक का काम करती है। वे सच्चे तन, मन से साधक और तपस्वी बन गये। लोक-पितामह का आसन डोल गया, ठीक उसी तरह एक दिन सन्ध्या की मंगलमयी बेला ने प्रजापति और असुर पितामहों में एक साथ आकर्षण उत्पन्न किया। असुर-गण विनीत मुद्रा में पितामह प्रजापति के समीप पहुँचे और साष्टांग प्रणाम कर बोले—'पितामह! अब हमें भी उपदेश दान कर कृतार्थ कीजिए। हमारे साथी सुर, नर गण अपने-अपने लोक में पहुँच कर अपनी-अपनी जाति और अपने-अपने लोक का उद्धार कर रहे हैं। हमें भी वह शुभ अवसर प्रदान कीजिए।'

लोक-पितामह असुरों की मर्मभरी वाणी सुनकर गम्भीर बन गये और थोड़ी देर बाद दिगन्त को आपूरित करते हुए वज्र के समान उन्होंने उत्कट स्वर में अपने 'द'कार का फिर तीसरी बार घोर उच्चारण किया। भूमण्डल प्रकम्पित-सा हो गया, दिग्गज हिल गए, कोल-कमठ कलमलाने लगे, दिशाओं ने आँखें मूँद लीं। सूर्य स्तमित हो गए और कुछेक क्षण के लिए सृष्टि के सारे व्यापार रुक गए। असुरों की आँखों ने, जिन्हें कभी दावाग्नि की प्रचंड लपटों से भी आकुलता नहीं हुई थी, मिचते हुए देखा कि प्रजापति के मुख से एक

गरमतेज निकलकर आकाश और दिशाओं को उद्भासित करते हुए विलीन हो गया। थोड़ी देर के लिए अमावस्या की उस श्यामा सन्ध्या की शोभा राका के समान हो गयी। फिर देखा कि थोड़ी ही देर बाद द्रुम, लतायें और वल्लरियाँ प्रसन्नता से खिल उठीं, अधखिली कलियाँ चटक गईं और कुडमलों में सुगन्धि बिखेर उठी, पक्षी गण चहचहाने लगे और चिड़ियों के कलरव में उस 'दकार' का गुणगान होने लगा। असुरों के समुत्सुक कर्णरन्ध्रों में सुमधुर समान आनन्ददायी उस 'द'-कार की गूँज प्रविष्ट होकर हृदय में बैठ गई। उन्होंने अपने अन्तर्नयन को खोल कर देखा कि चारों ओर उनके द्वारा की गई हिंसा, क्रूरता और निष्करुणा की घटनायें क्षण भर के लिए मूर्तिमान होकर विलीन हो रही हैं। उन्होंने अपने को बहुत सँभालने की कोशिश की तब भी नहीं सँभल सके। आँखें आँसुओं से भर गईं, हृदय करुणा से आपूरित हो उठा और चारों ओर से 'धिक्कार है, धिक्कार है' की गूँज उठने लगी।

थोड़ी देर तक उन वृद्ध असुरों की यही दशा बनी रही। पर प्रजापति की कृपा से वे फिर आश्वस्त हुए और देखा कि 'उस 'द' कार की महान् महिमा सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हो रही है। आकाश के तारे, नदियों और सरोवरों की लहरें वृक्षों के चिकने दल, पक्षियों के कलरव और वायु के शीतल मंद सुगन्ध झकोरों में उसी का अनुरणन हो रहा है। उन्होंने हृदय पर हाथ रख कर सोचा—'हम लोग जन्म से ही हिसक प्रवृत्तिवाले हैं, क्रोध और हिंसा ही हमारे जीवन में नित्य का व्यापार बन गयी है। इसी के कारण हम इतने अशान्त, दु:खी और मलिन हैं। अपनी हिंसा से ही हमने जगत् को रौरव नरक से भी भयानक बना रखा है। प्रजापति हमें उसी हिंसा से विरत होने के लिए 'द' अर्थात् 'दया' करने की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। निश्चय ही संसार में इस दया से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है, दूसरा उपदेश नहीं है और दूसरी शिक्षा नहीं है। हम सब कितने

क्रूर, अधर्मी और हिंसक हैं, जो अपने स्वार्थ में दूसरे के प्राणों की तनिक भी परवा नहीं रखते। प्राणिमात्र पर 'दया' करने के समान अमर शिक्षा और दूसरी क्या हो सकती है? अहा, दया ही एक अनुपम रत्न है, जिसका मूल्य कभी घट नहीं सकता। सुनने में कितना सुन्दर शब्द है, 'दया'। मानों कानों में सुधा की धारा और हृदय पर शान्ति और उल्लास की सरिता उमड़ रही है। निश्चय ही इस संसार में 'हिंसा' अर्थात् पर-पीड़ा के समान कोई अधर्म नहीं है और दया के समान कोई धर्म नहीं है।'

वृद्ध असुर पितामहगण आत्मग्लानि की आँच में तपते हुए यह सोच ही रहे थे कि दयालु प्रजापति ने अपने करुणापूर्ण वचन से अमृत छिड़कते हुए के समान सुमधुर स्वर में कहा—'असुरगण! मेरे 'द' कार का आपने क्या तात्पर्य समझा?'

असुरों ने विनीत स्वर में हाथ बाँध कर कहा—'भगवन्! हम हिंसक क्रूरों को आप 'द' अर्थात् 'दया' करने की अमर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। हम आपकी इस अमोघ कृपा से अब संसारसागर से पार हो जायँगे।'

प्रजापति अपनी सहज करुणा की धार को मन्द मुसकान से बाहर उँड़ेलते हुए बोले—'सौम्य! अब मुझे विश्वास हो गया कि भूमण्डल स्वर्ग बन जायगा और पृथ्वी का दुःख, दैन्य, दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो जायगा। आप सब प्राणिमात्र पर दया करें। आपको शक्ति इसलिए नहीं दी गई है कि आप अबलों को सताएँ और संसार में दुःख की दावाग्नि लगायें। शक्ति निर्बलों की रक्षा और असहायों की सहायता के लिए है। असुरो! हिंसा के समान अशान्ति, असन्तोष और दुःख देनेवाली दुनिया में दूसरी वस्तु नहीं है और दया के समान अमर शान्ति प्रदान करनेवाली कोई महौषधि नहीं है। संसार में तीनों तापों से दग्ध जीवों के लिए इस अमर मूरि के समान सुखदायिनी कोई वस्तु नहीं है। सचमुच यह दया ही सुर-सरिता है और दया ही लक्ष्मी तथा सरस्वती है। जिस कुबेर के पास 'दया'

का लेश नहीं, वह रंक का भी याचक है और जिस बृहस्पति के पास दया की रेखा नहीं वह महान् मूर्खों का भी शिष्य है। असुर पितामहो! जाइये और आज से मेरी इस अमर शिक्षा का अनुगमन और परिशीलन कीजिए निश्चय ही आपकी सारी कामनाएँ सुफल होंगी। संसार स्वर्ग बनेगा और आप सब की कीर्ति-कौमुदी दिगन्त तक प्रतिभासित होगी। आकाश गंगा के कमलों में लुकने वाले राजहंसों और भूमण्डल के सुप्रतीक आदि श्वेत दिग्गजों की आभा भी उससे अभिभूत होगी और पृथ्वी का कष्ट सदा के लिए दूर हो जायगा।'

कानों में अमृत घोलने वाले लोकपितामह के इन आशीर्वचनों को सुनकर असुरों की चिर्रहिसक वासनायें भी आँसुओं के बहाने बाहर निकल पड़ीं और वे सच्चे अर्थों में प्रजापति की प्यारी सन्तान बन कर उनके चरणों पर गिर पड़े।